कृष्णदास संस्कृत सीरीज ५२

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितम्

'जीवातु' 'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दी-व्याख्याकार:
डॉ० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री

(सर्ग १-११ पूर्वार्ध)



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी.
मूल्य ५०-००

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

५२

महाकवि-श्रीहर्षविरचितं

नैषधीयचरितम्

महोपाध्यायमल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित-
सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दी-व्याख्याकार:
डॉ० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री
एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१

१९८४

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४१

© KRISHNADAS ACADEMY
Oriental Publishers and Distributors
Post Box No. 1118
Chowk,(Chitra Cinema Building), Varanasi–221001
(INDIA)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १००८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

KRISHNADAS SANSKRIT SERI
52

NAISADHIYACHARITAM

OF

MAHAKAVI SHRIHARSHA

With

The 'Jivatu' Sanskrit Commentary of Mallina

And

The 'Chandrika' Hindi Commentary

By

Dr. DEVARSHI SANADHYA SHASTRI
M. A., Ph. D., D

KRISHNADAS Academy
VARANASI-221001
1984

© KRISHNADAS ACADEMY

Oriental Publishers & Distributors

POST BOX No. 1118

Chowk, (Chitra Cinema Building), Varanasi–221001

(INDIA)

First Edition

1984

Also can be had from

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 1008, Varanasi–221001 (India)

Phone : 63145

समर्पणम्

सावित्री बुआ

और

'नैषधीयचरित'

में

रुचि जगाने वाले

आदरणीय फूफाजी

श्री शिवदत्त शास्त्री

को

अशेष श्रद्धा सहित

अभिस्वीकृति

देवभारती के अमर महाकवि श्रीहर्ष के गौरवग्रन्थ महाकाव्य 'नैषधीय-चरित' के प्रति किशोरावस्था में जो चपल-अनुराग उत्पन्न हो गया था, जीवन की संध्यावेला नियराने पर 'नैषध' के इस हिन्दी-रूप में उसीका विकास हो गया है, और यदि मैं कहूँ कि इस रूप में मेरी एक अत्यन्त प्रिय आकांक्षा की पूर्त्ति हो रही है, तो अवांछित न होगा। यह 'मुगालता' (भ्रम) मुझे नहीं है कि मैं 'नैषध' की व्याख्या का दुःसाहस कर रहा हूँ और श्रीहर्ष के पाठकों को कुछ नवीन और अनवद्य दे रहा हूँ। न तो मेरी क्षमता ही इतनी है और न प्रतिभा ही। मैं निःसंकोच आभार व्यक्त कर रहा हूँ उन सभी प्राचीन और अर्वाचीन 'नैषधपरिशीलन' के धन्य विद्वज्जनों के प्रति, जिनका मार्गदर्शन मेरा संवल है। उनकी सूची लंबी है। वे सब हार्दिक श्रद्धा के साथ मेरा अभिवादन और कृतज्ञता-ज्ञापन ग्रहण कर लें तो मैं अपने को धन्य मानूंगा। मैंने तो जो ये 'सफेद कागद काले' कर दिये उस अखिल को मैं अपना चापल ही मानता हूँ—

स ब्रह्मा चतुराननः स भगवानीशोऽपि पञ्चाननः
स स्कन्दश्च षडाननः स फणिनामीशः सहस्राननः।
यत्पद्यार्थविशेषवर्णनविधौ नेशाः वयं तत्र के
यद् व्याख्यायि तथापि किञ्चिदखिलं तच्चापलं केवलम् ॥

श्रीहर्ष तो अथाह सागर हैं, उनका जल चाहे जितने बादल लेते रहें, उसमें तो बूंद भर कमी न आयेगी :—

दिक्कूलङ्कषतां गतैर्जलधरैरुद्गृह्यमाणं मुहुः।
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुमात्रं क्वचित् ? ॥

और यह अन्याय ही होगा संस्कृत-वाङ्मय के एकनिष्ठ अनुरागी श्रीविठ्ठलदास गुप्त के प्रति यदि मैं उनकी कल्याण कामना न करूँ 'नैषधीयचरित' को इस रूप में लाने के निमित्त उनके साहस और सामर्थ्य पर। उनके विश्रुत 'प्रकाशन' से यह प्रकाश पा रहा है, उन्हें श्रेय भी प्राप्त हो और प्रेय भी। तथास्तु।

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०४१

—देवर्षि सनाढ्य

भूमिका

श्रीहर्ष और नैषध

महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृत-वाङ्मय के उत्कृष्ट महान् कलाकारों में महाकवि श्रीहर्ष की गणना की जाती है और उनके रचे महाकाव्य "नैषधीयचरित' (नैषध) पर भारतीय काव्यप्रेमी को अभिमान है। कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति, भारवि, माघ आदि संस्कृत के मूर्धन्य महाकवियों की परंपरा में श्रीहर्ष का नाम गौरव के साथ लिया जाता है।

'नैषधीयचरित' के प्रत्येक सर्ग के अन्त में "श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्"—इत्यादि जो श्लोक दिया गया है, उस कवि के आत्म-परिचय से यह स्पष्ट है कि श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर था और माता का नाम मामल्लदेवी। पदच्छेद के आग्रही कुछ मनीषी मामल्लदेवी का 'माम् + अल्लदेवी' (मुझे अल्लदेवी ने) करके उनकी माता का नाम अल्लदेवी बताना चाहते हैं, किन्तु सामान्यतया यही स्वीकृत है कि कवि-जननी का नाम मामल्लदेवी ही है, जो 'वातापि' के निकटस्थित मामल्लपुर की निवासिनी थी। जैसा कि श्लोकगत विशेषण से स्पष्ट है, श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर एक श्रेष्ठ कवि थे—कविराजों के मुकुटो के हीरक अलंकार—'कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः।'

'नैषधीयचरित' के (प्राप्त) अन्तिम बाईसवें सर्ग के चतुर्थ और अंतिम कवि-अभिस्वीकृति-परक श्लोक—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि घर्षित-परास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥

से यह तो प्रकट हो ही जाता है कि काव्य के घनो होने के साथ-साथ

महाकवि श्री श्रीहर्ष अद्भुत तर्कशास्त्री भी थे, साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे कान्यकुब्जाधिपति की राजसभा के समादरणीय पंडित-कवि थे, जिन्हें आदरपूर्वक कान्यकुब्जेश्वर 'ताम्बूलद्वय' और 'आसन' अर्पित किया करते थे। इन कान्यकुब्जेश्वर का नाम जयन्तचन्द्र था—

परममहाराजाधिराजपरमेश्वरपरममाहेश्वराश्वपतिगजपतिनरपति-
राजत्रयाधिपतिविविधविद्याविचारवाचस्पतिश्रीमज्जयन्तचन्द्रः।'

'इण्डियन एंटिक्वेटी' प्राचीन लेखमाला के तेईसवें लेख में प्रकाशित, वि० संवत् १२४३, आषाढ़ शुदि रविवार सप्तमी (ईशवीय सं० ११८७) को लिखित दानपत्र के अनुसार महाराज जयंतचन्द्र की वंशपरंपरा का क्रम इस प्रकार है—यशोविग्रहमहीचन्द्र–श्रीचन्द्रदेव–मदनपाल–गोविन्दचन्द्र–विजयचन्द्र–जयन्तचन्द्र। इस प्रकार श्रीजयन्तचन्द्र यशोविग्रह की कुलपरंपरा में जात श्रीविजयचन्द्र के पुत्र थे। जैसा कि आगे ज्ञात होगा, इस मान्यता में केवल एक बाधा पड़ती है कि एक श्लोक में जयन्तचन्द्र को 'गोविन्दनन्दन' कहा गया है। सामान्यतया 'नन्दन' से तात्पर्य पुत्र ही होता है, पर परंपरया 'पौत्र' भी माना जा सकता है।

जैनपण्डित राजशेखररचित 'प्रबंधकोष' (ई० सं० १३४८) में श्रीहर्ष के विषय में कुछ अच्छा विवरण दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा जयन्तचन्द्र की सभा में बहुत-से पंडित थे। उनमें एक हीरपंडित भी थे। उसी के पुत्र महाविद्वान् श्रीहर्ष भी थे—'पूर्वस्यां वाराणस्यां पुरि गोविन्द-चन्द्रो नाम राजा ५७० अन्तःपुरीययौवनरसपरिमलग्राही। तत्पुत्रो जयन्त-चन्द्रः (दानपत्र के अनुसार यह पाठ 'तत्पुत्रो विजयचन्द्रः। तत्पुत्रो जयन्त-चन्द्रः' होना चाहिए। दाधीचपंडित शिवदत्त शास्त्री ने ऐसा ही संशोधन-परिवर्द्धन कर दिया है।) तस्मै राज्यं दत्त्वा पिता योगं प्रपद्य परलोकम-साधयत्। जयन्तचन्द्रः सप्तप्रयोजनशतमानां पृथिवीं जिगाय। मेघचन्द्रः कुमारस्तस्य। यः सिंहनादेन सिंहानपि भङ्क्तुमलम्। किं पुनर्मदान्धगन्धेभभटाः। तस्य राज्ञश्चलतः सैन्यं गङ्गायमुने विना नाम्भसा तृप्यतीति नदीद्वययष्टि-ग्रहणात् 'षड्गुलो राजा' इति लोके श्रूयते। तस्य गोमती दासी षष्टिसहस्रेषु वाहेषु प्रक्षरां निवेश्याभिषेणयन्ती परचक्रं त्रासयति। राज्ञः श्रम एव का।

तस्य राज्ञो बहवो विद्वांसः । तत्रैको हीरनामा विप्रः । तस्य नन्दनः प्राज्ञ-चक्रवर्ती श्रीहर्षः ।'

श्रीहर्ष अभी छोटे ही थे कि सभा में एक पंडित ने श्रहीर को राजा के संमुख पराजित कर दिया । श्रीहीर बड़े लज्जित हुए । उस समय तो उसका मुंह बन्द हो गया, पर वे उस जयी पंडित से वैर मानने लगे । मृत्युसमय उन्होंने बेटे श्रीहर्ष से कहा—'बेटे, उस पंडित ने आज मुझे राजा की दृष्टि में गिरा दिया है, मैं बड़ा दुःखी हूँ। यदि मेरे सच्चे पुत्र हो तो इसका ऐसा ही बदला लेना ।' श्रीहर्ष ने वचन दिया और श्रीहीर ने परलोक-यात्रा की—

'सोऽद्यापि बालावस्थः । सभायां राजकीयेनैकेन पंडितेन वादिना हीरो राजसमक्षं जित्वा मुद्रितवदनः कृतः लज्जापङ्के मग्नो वैरं बभार । मृत्युकाले श्रीहर्षं स बभाषे—'वत्सामुकेन पण्डितेनाऽहमाहत्य राजदृष्टौ जितः । तन्मे दुःखम् । यदि सत्पुत्रोऽसि तदा तं जयेः क्ष्मापसदसि ।' श्रीहर्षेणोक्तम् 'ओम्' इति । हीरो द्यां गतः ।' (प्रबंधकोष ५४-५५) ।

यह श्रीहीरजयी पंडित कौन था ? कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध मैथिल-नैयायिक उदयनाचार्य थे, (ई० १२०७ के) चाण्डूपंडित के लेख से यही प्रतीत होता है किन्तु जैसा आगे स्पष्ट होगा, उदयनाचार्य और श्रीहर्ष का स्थितिकाल एक नहीं है ।

और पिता की इच्छा पूरी करने के लिए श्रीहर्ष परिवार का भार विस्वस्त कुटुम्बिजनों पर छोड़ परदेश चल दिये । अनेक विद्वानों, अनेक आचार्यों का सामीप्य पा श्रीहर्ष अल्प काल में ही तर्क, अलंकार, काव्य, गणित, ज्योतिष्, व्याकरण, मंत्रविद्यादि के सिद्ध ज्ञाता हो गये । गंगातट पर एक वर्ष तक गुरु से प्राप्त चिन्तामणि मंत्र उन्होंने सिद्ध किया, देवी त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुई और श्रीहर्ष को अद्भुत पांडित्य का वर दिया । अद्भुत पंडित श्रीहर्ष अनेक राजसभाओ में जाने लगे, और गोष्ठियों में भाग लेने लगे, पर उनका उद्योग सार्थक न होता था । वे कुछ ऐसे अलौकिक वचन उच्चारते कि किसी की समझ में ही कुछ न आपाता । उनकी विद्या 'अतिविद्या' हो गयी थी । खिन्न श्रीहर्ष पुनः देवी भारती की शरण गये । जब वे प्रत्यक्ष हुई तो श्रीहर्ष ने कहा—'माँ, मेरी अतिबुद्धि दोष बन गयी है, कुछ ऐसा

करो माँ, कि मैं ऐसा बोलने में समर्थ हो जाऊँ कि मेरा कहा लोग समझ सकें। देवी ने कहा 'पुत्र, आधीरात में सिर गीला करके दही का सेवन करो और सो जाओ। कफांश में वृद्धि होने से कुछ जड़ता आ जायेगी।' श्रीहर्ष ने माँ के आदेश का पालन किया और वे ऐसा कहने-बोलने में समर्थ हुए कि उनकी वाणी लोकगोचरीभूता हुई। श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थ रचे और कृतकाम हो वे काशी पहुँचे। नगर में पहुँचकर उन्होंने महाराज जयंतचन्द्र को अपने पढ़कर लौट आने की सूचना भिजवायी। गुणज्ञ राजा श्रीहर्ष के पिता के जेता पंडित और अन्य विद्वानों के साथ श्रीहर्ष के स्वागत-सत्कार के निमित्त नगर-प्रांत में पहुँचे। राजा के स्नेह-सत्कार से तुष्ट कवि ने राजा की प्रशंसा में कहा—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री।

और स्वयं ही उच्चस्वर में इस स्तुति की सरस व्याख्या की—'हे तरुणियों, गोविन्द-नन्दन होने और शरीर की कान्ति के कारण इस नृपति को कामदेव मत समझो; यह काम नहीं है, (उससे कहीं अधिक है), काम तो जब जगद्विजयार्थ प्रस्तुत होता है तो सुन्दरियों को अस्त्र बनाता है, पर यह नरेश अस्त्रधारियों को विजय करते समय स्त्री बना डालता है—अर्थात् परजन नारियों की भाँति इसके शरणागत हो जाते हैं।

यहाँ चमत्कार है 'अस्त्री' शब्द प्रयोग के कारण। जो स्त्री हैं, उन्हें काम 'अस्त्रीकरोति' (स्त्री नहीं रहने देता, विरोध-परिहार में अर्थ अस्त्र युक्त करता है), राजा 'अस्त्रीजन' (जो स्त्री नहीं है, विरोध-परिहार में अर्थ अस्त्रधारी) को 'स्त्री' बनाता है। इसी विरोधाभास के चमत्कार में राजा का काम से 'व्यतिरेक' प्रमाणित होता है। सभा और राजा चमत्कृत हुए और संतुष्ट हुए। तब श्रीहर्ष ने पितृवैरी के प्रति कहा—'चाहे सुकुमार काव्य-साहित्य हो अथवा कठोर न्यायग्रन्थिलतर्क, मेरे विधाता (रचयिता) होने पर भारती का लीला-विलास एक समान ही रहता है। चाहे मुलायम, कोमल बिस्तर से सजी शय्या हो, चाहे दर्भ के काँटे बिछी नंगी धरती, यदि पति मनभाया है तो तरुणियों की रति समान ही होती है'—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रह-ग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवति दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

इस चमत्कारपूर्ण 'आह्वान' (चुनौती) को सुनकर पिता का वैरी पंडित तो श्रीहर्ष से अभिभूत हो गया और उसने सविनय कहा—श्रीहर्ष देव, आप तो वादकर्ताओं में इन्द्रतुल्य हैं, भारती आपको सिद्ध है, आपके समान ही कोई नहीं है, अधिक क्या होगा? जंगल में सहस्रों बलशाली हिंसक पशु होते हैं, परन्तु प्रशंसा एक सिंह के विध्वोत्तर पराक्रम की ही की जाती है, जिसकी एक हुँकारी सुनकर वराहयूथों की क्रीडा, मदमाते पशुओं का मद, व्याघ्रादि (नाहल-नाहर) का कोलाहल और भैंसों का आनन्द समाप्त हो जाता है—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विध्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलै-
सहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते ॥

प्रतिवादी की यह स्थिति देख श्रीहर्ष का क्रोध उतर गया। राजा ने कहा—'इसी योग्य हैं श्रीहर्ष'। अच्छा अवसर था। राजा ने दोनों को गले मिलवा दिया। राजप्रासाद में श्रीहर्ष को ले गये। सत्कार किया, स्वर्ण-राशि भेंट की।

एकबार राजा की इच्छा होने पर श्रीहर्ष ने प्रबंधरत्न रचा। उस दिव्यरस, महागूढव्यंग्य रचना से चारुतम महाकाव्य 'नैषधीयचरित' को देख कर राजा ने कहा कि यह अत्यंत सुन्दर है, पर कविराज, काश्मीर जाओ, वहाँ इसे पंडितों को दिखाओ भारती देवी के चरणों में रखो यदि आपका प्रबंध सत्य होगा तो देवी सिर हिलाकर 'स्वीकार' करेंगी, पुष्पवृष्टि होगी, यदि 'असत्' होगा तो देवी हाथ से उठाकर दूर फेंक देंगी। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया, पर सरस्वती ने तो पुस्तक को उठाकर दूर फेंक दिया। श्रीहर्ष ने कहा—'बूढ़ी हो जाने से क्या हाथ काँपने लगा है, जो मेरे

रचे प्रबंध को अन्य जनों के सामान्य प्रबन्ध की भाँति अवमानित कर रही हो ?' देवी बोली—'अरे झूठे, क्या स्मरण नहीं आता कि अपने काव्य के एकादश सर्ग के चौसठवें श्लोक में तूने मुझे विष्णुपत्नी कहा है और मेरे लोक-विश्रुत कन्याभाव को खंडित किया है ? इसी से मैंने पोथी फेंक दी।' श्रीहर्ष ने कहा—'तो क्यों अपने एक अवतार में नारायण को पति बनाया ? पुराणों में भी आपको विष्णपत्नी कहा जाता है। सच पर क्यों कुपित होती हैं, क्या क्रुद्ध होने से कलंक से छूट पायेंगी ?' भारती देवी ने स्वयं ग्रन्थ उठाकर हाथ में रखा और ग्रन्थ की प्रशंसा की। श्रीहर्ष ने काश्मीरी पंडितों से निवेदन किया कि आप लोग यहाँ के राजा माधवदेव को ग्रन्थ दिखा दें और इसकी शुद्धि का प्रमाणपत्र दिलवा दें, जिसे मैं महाराज जयंतचन्द्र के संमुख प्रस्तुत कर सकूँ। पर भारती देवी द्वारा मान्य होने पर भी न तो पंडितगणों ने प्रमाण लेख दिया, न राजा को ही ग्रन्थ दिखाया। श्रीहर्ष कई मास प्रतीक्षा करते ठहरे रहे। धीरे-धीरे पास की सामग्री समाप्त हो गयी, अपना माल--असबाब वेचना पड़ गया। एकबार वे एक कूप-जलाशय के निकट मंदिर में एकांत में रुद्रजप कर रहे थे कि जल भरने आयीं दो स्त्रियों में जल भरने को लेकर गाली-गलौज और मार-पीट हो गयी, सिर फूट गये। अभियोग राजा के यहाँ गया, जहाँ साक्षी की खोज हुई। पूछे जाने पर दोनों स्त्रियों ने कहा कि हमारे झगड़े का कोई और साक्षी तो नहीं है, किन्तु वहाँ एक ब्राह्मण जप कर रहा था। राजा के आदमी श्रीहर्ष को ले आये। पूछे जाने पर श्रीहर्ष ने संस्कृत भाषा में कहा—'देव, मैं परदेशी हूँ, यहाँ की लोकभाषा नहीं समझता, जिसमें ये दोनों बोल रहीं थी, हाँ वे बोले गये शब्द सुना सकता हूँ।' राजा के कहने पर श्रीहर्ष ने प्रतिशब्द, उसी क्रम से भाषण सुना दिया। राजा चमत्कृत हो गये। धन्य है इसकी प्रज्ञा ! धन्य है अवधारणा शक्ति ! स्त्रियों के विवाद का निर्णय करके राजा ने श्रीहर्ष से उनका परिचय सादर पूछा। श्रीहर्ष ने सारी कथा सुनाकर कहा—'राजन्, पंडितों की दुर्जनता के कारण आपकी नगरी में दुःख उठा रहा हूँ। राजाने पंडितों को बुलाकर धिक्कारा और कहा कि अरे दुष्टों अपने-अपने घर ले आकर तुम सब ऐसे महात्मा को

सत्कारो पंडितों ने वैसा ही किया। राजा ने भी श्रीहर्ष का सत्कार—समान करके सादर काशी भेजा वहाँ उन्होंने राजा जयंतचन्द्र से भेंट कर सारा वृत्तांत कहा। राजा संतुष्ट हुआ और 'नैषधीयचरित' लोक में प्रसिद्ध हुआ।

इसी समय जयंतचन्द्र महाराज का प्रधान पद्माकर अणहिल्लपुर गया हुआ था। वहाँ सरोवर के किनारे धोबी के धोये कपड़ों में उसने एक साड़ी फैली देखी, जिस पर भौंरे ऐसे भनभना रहे थे, जैसे कि केतकी पर। प्रधानामात्य ने विचारा कि यह साड़ी अवश्य किसी पद्मिनी नारी की है। संध्या को धोबी के बताने पर वह साड़ी की मालिकिन से मिला। वह स्त्री एक शालापति की विधवा थी, तरुणी और सुन्दरी। नाम था सूहवदेवी। प्रधान सोमनाथ की यात्रा से निवृत्त हो श्रीकुमारपाल के पास से सूहवदेवी को काशी ले आया और वहाँ वह महाराज जयंतचन्द्र को भोगिनी बन कर प्रसिद्ध हो गयी। वह विदुषी थी और अभिमानिनी। लोक में वह 'कला-भारती' कही जाने लगी! श्रीहर्ष 'नरभारती' कहे जाते थे। यह ईर्ष्यालु सूहवदेवी न सह पायी। एक दिन सत्कार पूर्वक उसने श्रीहर्ष को बुलवाया और पूछा कि आप कौन हैं? श्रीहर्ष ने कहा—'मैं कला-सर्वज्ञ हूँ।' तुरंत सूहवदेवी ने कहा--'तो फिर जूते बनाकर पहिनाइए।' तात्पर्य यह था कि श्रीहर्ष ऐसा निम्नकार्य करना अस्वीकारेंगे और 'कलासर्वज्ञ' नहीं, अज्ञ समझे जायेंगे, पर श्रीहर्ष ने स्वीकारा और बल्कल के जूते बनाकर साँझ को उसे एक चर्मकार की कला से पहिना दिये। किन्तु इससे श्रीहर्ष ने अपने को अत्यन्त अपमानित माना और राजा से सारा समाचार कह सांसारिकता से खिन्न हो गंगातट पर जा संन्यासी हो गये। अब अवशिष्ट जीवन इसी प्रकार व्यतीत हुआ। अभिमानिनी सूहवदेवी और उसके ही दुष्ट संसर्ग के कारण राजा का कैसा शोचनीय अन्त हुआ, यह एक अवान्तर कथा है।

जीवन से संबद्ध कुछ किंवदन्तियाँ

श्रीहर्ष के संबंध में गदाधर पंडित ने लिखा है कि राजा गोविन्दचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष अत्यन्त संमानित थे, जिससे अन्य कविपंडित जलते थे। अपने प्रसिद्ध तर्कशास्त्रीय ग्रन्थ 'खंडनखंडखाद्य' की जब उन्होंने रचना की तब ईर्ष्यालु पंडित उन्हें 'तर्कशमीवृक्षपरिपूर्ण-शुष्कमरु' कहकर उनका

उपहास करने लगे। श्रीहर्ष ने इस पर अपनी काव्य-प्रतिभा प्रकट करने के लिए 'नलचरित' महाकाव्य लिखकर राजा को भेंट किया। इस पर प्रसन्न हो राजा ने उसे दो आसन और दो ताम्बूल देकर 'कविपंडित' की उपाधि से संमानित किया। वे आसनद्वय और ताम्बूलद्वय तर्क और काव्य—दो विषयों में उनके अगाध ज्ञान की स्वीकृति मान्यता के रूप में थे।

काश्मीर के पण्डितों में कहा जाता है कि श्रीहर्ष 'काव्यप्रकाश' के रचयिता राजानक मम्मट के भागिनेय थे। सो भांजे ने अपना महाकाव्य रचकर पहिले साहित्यशास्त्र के परम ज्ञाता अपने मामा को ही दिखाया। मामा मम्मट ने काव्य को देखकर सखेद हर्ष प्रकट किया कि यदि यह रचना 'काव्यप्रकाश'—रचना से पूर्व प्राप्त हो जाती तो 'दोष-परिच्छेद'—रचना में इतना श्रम न करना पड़ता, सब दोषों के उदाहरण इसी काव्य में प्राप्त हो जाते। श्रीहर्ष ने क्षोभ के साथ जानना चाहा कि पंण्डित मामा एक ही द्वोष इसमें दिखा दें। मामा मम्मट ने 'नैषधीयचरित' (२।६२) का श्लोक—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

दिखा दिया। यों 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इस मंगलश्लोक में 'आशी.' अलंकार माना गया है, पर कहा जाता है कि पदच्छेद में यत्किञ्चित्-परिवर्तन कर देने से यह अमंगलवाचक हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि यह परिवर्तन क्यों किया जाय? इसके अतिरिक्त मम्मट का कार्य-काल १०५० वि० माना जाता है और जैसा आगे स्पष्ट होगा कि श्रीहर्ष की स्थिति इस काल में नहीं है। इसी प्रकार गदाधर पण्डित का कथन भी एक किंवदन्ती ही है।

श्रीहर्ष की वंश-परम्परा

श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर था, यह तो स्वयं उनकी आत्मकथा से प्रमाणित है, पर उनके पुत्र के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है; किन्तु ऐसा माना जाता है कि उनके पौत्र का नाम कमलाकर गुप्त था। बताया जाता है कि इन्होंने 'नैषधीयचरितम्' पर भाष्य लिखा था। यह भी माना जाता है कि गुजरात में इस महाकाव्य की प्रतिलिपि लाने वाले कवि हरिहर श्रीहर्ष के वंशज थे।

श्रीहर्ष का समय और निवास-स्थान

प्राचीन लेखमाला के २३ वें लेख में महाराज जयंतचन्द्र के दानपत्र से संबद्ध संवत् १२४३ (११८७ ए०डी०) का स्पष्ट उल्लेख है और २२ वें लेख में यौवराज्य-दानपत्र से संबद्ध संवत् १२२५ (११६९ ए०डी०) का। इस प्रकार राजा जयन्तचन्द्र का समय ईसा की बारहवीं शती निर्णीत किया जाता है। श्रीहर्ष जयन्तचन्द के सभापण्डित थे, अतः इनका समय भी ईसवी बारहवीं शती होना चाहिए। इस विषय में थोड़ा-सा विवाद है।

रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई द्वारा १८७५ ई० से प्रकाशित ग्रन्थ (पृष्ठ सं० ३७१–३८७) में डॉ० जी० बूलर का एक लेख छपा है। इसमें उन्होंने जैनकवि राजशेखर के 'प्रबंधकोष' को मान्यता देते हुए यह सिद्ध किया है कि श्रीहर्ष बारहवीं ई० शती के उत्तरभाग में हुए थे। उनके अनुसार 'नैषधीयचरित' की रचना ई० ११६३–११७४ के बीच हुई होगी। जयंतचन्द्र के पिता महाराज विजयचन्द्र के अनुसार जयंतचन्द्र ने ई० ११६३–११७७ के बीच सिंहासन पाया। राजशेखर ने उसे कुमारपाल (११४३–११७४ ई०) का समसामयिक माना है। जयंतचन्द्र ने ई० ११६३ से ११९४ तक काशी में राज्य किया। ११९४ में 'सुरत्राण' (म्लेच्छ सुलतान) से युद्ध करते समय उसका पराभव हुआ, कदाचित् मृत्यु भी।

डॉ० बूलर ने इससे पूर्व एक संदर्भपत्र एशियाटिक सोसाइटी की एक सभा में पढ़ा था, जिससे उन्होंने श्रीहर्ष की स्थिति बारहवीं ई० शती का अन्तिम भाग बताया था, यह 'इण्डियन आंटीक्वेरी' में छपा। इस पर अनेक विद्वानों ने आपत्ति की और मतभेद प्रदर्शित किया। डॉ० बूलर ने इन सबका युक्तिपूर्वक खंडन किया।

(क) मतभेद-प्रदर्शकों में उन्होंने सर्वप्रथम जस्टिस श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग के मतवाद का उल्लेख किया है, श्रीतेलंग ने 'कुसुमांजलि' के रचयिता उदयनाचार्य का समयनिरूपण करते हुए प्रसंगानुसार श्रीहर्ष के समय पर भी विचार किया है, जिसमें उन्होंने बताया है कि श्रीहर्ष ईसा की नवीं-दशवीं शताब्दी में हुए थे, बारहवीं में नहीं। उनके प्रमाण ये हैं—

(१) भोजराज (११वीं शती) के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में 'नैषधीय-चरित' के श्लोक उदाहरण-स्वरूप उद्धृत हैं। इस मत का प्रतिपादन डॉ० हाल ने किया था।

(२) वाचस्पति मिश्र (११वीं शती) ने श्रीहर्ष के 'खण्डन-खण्डखाद्य' का खण्डन किया है।

(३) सायणमाधव (चौदहवीं शती का आरंभ) ने अपने 'शंकर-विजय' (१५।७२, १४३, १५७) महाकाव्य में 'बाण, मयूर, उदयन और श्रीहर्ष के शंकराचार्य द्वारा पराजय का उल्लेख किया है, जिससे श्रीहर्ष शंकराचार्य के समकालीन ठहरते हैं।

(४) अनेक स्थलों पर स्पष्ट दोष होने के कारण राजशेखर का कथन विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

(ख) दूसरा मतवाद प्रो० एफ० एस० ग्राउस का है। इन्होंने चन्द कवि के 'पृथ्वीराजरासो' को आधार मानते हुए कहा है कि चंद १२वीं ईशवी शती के अंतिम भाग में हुए थे, अतः यदि राजशेखर का कथन ठीक है तो श्रीहर्ष (१२ वीं शती) और चन्द समकालीन हुए और चंद को उनसे भली भाँति परिचित होना चाहिए। परन्तु चन्द ने अपने पूर्व-जातों का उल्लेख करते हुए नलचरित-प्रणेता श्रीहर्ष को कालिदास से पूर्व माना है।

डाक्टर बूलर ने इन सबका समाधान इस प्रकार किया :—

(१) वाचस्पति नामक किसी विद्वान् ने 'खण्डन-खण्डखाद्य' का खण्डन तो किया है, परन्तु ये वाचस्पति मिश्र कौन-से हैं, यह जानना संभव नहीं है। वाचस्पति मिश्र एकाधिक हुए हैं। चार के नाम तो 'कैटालागस कैटालागॉरम' (यूरोप से प्रकाशित लेखकनाम सूची) में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र के 'खण्डनोद्धार' नामक ग्रन्थ का नाम प्राचीन वेदान्तियों द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची में नहीं मिलता। विद्वानों ने यही माना है, इस ग्रन्थ के रचयिता कोई नवीन वाचस्पति हैं। वस्तुतः गंगेश उपाध्याय ने श्रीहर्ष के ग्रन्थ का खण्डन किया था। १३५० ई० में नवीन वाचस्पति ने इसी का खंडन किया था।

(२) भोजराज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में उद्धृत श्लोकों की अकारादिक्रम से एक सूची 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार श्रीवामन झलकीकर ने बनायी हैं, उन्होंने 'नैषधीयचरित' के श्लोकों से उद्धृत श्लोकों की तुलना

कर यह निर्णय दिया है कि 'नैषधीयकाव्य' के श्लोकों की छाया भी 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में नहीं है। डॉ० आफ्रेक्त ने स्वरचित 'आक्सफोर्ड मैनुस्क्रिप्ट' (हस्तलिखित पुस्तक सूची) में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उद्धृत श्लोकों और उनके रचयिता का नामानुक्रम दिया है, उसमें भी कहीं नैषध अथवा नैषध-कार का नाम नहीं है। इस प्रकार डॉ० हाल ने या तो 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का कोई अशुद्ध संस्करण देखा है या फिर उनका कथन ही भ्रांत है।

(३) सायणमाधव का 'शंकरविजय' ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, उसका आधार दन्तकथाएँ हैं। उसका उद्देश्य शंकराचार्य महाराज की महत्ता-प्रतिपादन मात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है।

(४) जहाँ तक ग्रौस महोदय के 'पृथ्वीराजरासो' के आधार का और उसके आधार पर निर्धारित मान्यता का प्रश्न है, 'रासो' का प्रमाणित होना अत्यन्त विवादग्रस्त है, उस पर अनेक आपत्तियाँ है। वस्तुतः उसकी प्राप्त प्रति ही बहुत बाद की है। चन्द ने पूर्वजातों को प्रणाम करने की परम्परा में जो क्रम दिया है, वह पूर्णतः अविश्वसनीय है। वस्तुतः वह क्रम है ही नहीं। 'क्रम' ग्रौस साहब ने मान भर लिया है। यह कोई विचार ही नहीं सकता कि श्रीहर्ष कालिदास से भी पूर्व हुए थे। स्वयं जस्टिस तेलंग भी 'रासो' को प्रमाणित रचना नहीं मानते।

श्रीहर्ष बारहवीं शती में उत्पन्न हुए—डॉ० बूलर के इस निष्कर्ष का आधार चांडू पण्डित (१२६९ ई०) की नैषधीय की टीका है, जिसमें विद्याधर की 'साहित्यविद्याधरी' टीका में 'नैषधीयचरित' को दिये गये विशेषण 'नवं काव्यम्' के आधार पर उसे नूतन काव्य माना गया है। 'प्रबन्धकोष' के अनुसार श्रीहर्ष ने 'नैषध' की रचना ११७४ ई० से कुछ पूर्व की थी। श्रीहर्ष इसकी रचना करके ही काश्मीर गये थे।

जैसा कि कहा जा चुका है कि गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) ने श्रीहर्ष के 'खंडनखंडखाद्य' का खंडन किया था, वाचस्पति ने गंगेश के उत्तर में 'खण्डनोद्धार' लिखा है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र सूरि (१०८८–११७२ ई०) के शिष्य महेन्द्र सूरि ने हेमचंद्राचार्य की पुस्तक 'अनेकार्थसंग्रह' की टीका 'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी' में 'नैषध' का उल्लेख किया है। यह टीका

हेमचंद्र सूरि के निधन के कुछ काल बाद ही लिखी गयी थी। इससे पता चलता है कि ११७५ ई० के निकट ही 'नैषधीयचरित' रचा गया होगा। प्रो० एस्० पी० भट्टाचार्य का भी यही अभिमत है कि श्रीहर्ष की साहित्यिक गतिविधियों का समय ११३०–११७० ई० ही संभव है।

इस प्रकार श्रीहर्ष के काल-निर्धारण संबंधी तीन मतवादों :—

(१) नवम-दशम शती–जस्टिस का० त्र्य० तेलंग, प्रो० ग्राउस, श्रीराम प्रसाद चंद;

(२) ग्यारहवीं शती का मध्य –श्री एन० पी० पूरनैया; और

(३) बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध—डॉ० जी० बूलर, श्री आर० डी० सैन, श्री डी० आर० भंडारकर—

—में अन्तिम मत ही समीचीन है।

श्रीहर्ष का निवास स्थान

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'—कथन से यह तो निश्चित ही है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर के समादृत सभापण्डित थे, किन्तु उनकी जन्मभूमि—पितृभूमि के विषय में कुछ विवाद है। इस प्रसंग में चार मतवाद हैं—(१) श्रीहर्षका वासस्थान काश्मीर था, (२) काशी था, कन्नौज था और (३) बंगाल था।

(१) श्रीहर्ष काश्मीरी थे, इसका प्रमुख आधार है 'नैषधीयचरित' (१६।१३१-३) की उक्ति—'काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिः'.... इत्यादि (चतुर्दशविद्याओं के ज्ञाता काश्मीरी पण्डितों से सम्मानित) और राजानक मम्मट से श्रीहर्ष का संबंध। जैसा कि श्रीहर्ष के जीवनवृत्त से स्पष्ट है कि श्रीहर्ष काश्मीर गये अवश्य थे, पर काश्मीर उनके पूर्वजों की भूमि नहीं थी। राजशेखर की भी मान्यता इसके विपक्ष में है। और जहाँ तक मम्मट-श्रीहर्ष का संबंध है, वह तो एक किंवदन्ती-मात्र है। श्रीहर्ष के काश्मीरी होने का मतवाद सारवान् नहीं है।

(२) काशी विषयक मतवाद के पोषक हैं जैनकवि राजशेखर (प्रबंध-कोषकार), गदाधर और चांडू पण्डित। इसका आधार है राजा जयंतचन्द्र से श्रीहर्ष का संबंध। श्रीहर्ष ही नहीं, उनके पिता श्रीहीर भी राजा जयंत-चन्द्र के सभापण्डित थे। कान्यकुब्जेश्वर जयंतचन्द्र और उनके पूर्वपुरुषों के

विषय में संवत् १२४३ के दानपत्र के पंचम श्लोक में कहा गया है—'तीर्थानि काशिकुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताऽधिगम्य।' गंगातट पर संन्यास लेकर श्रीहर्ष रहे ही थे। इससे यह तो सिद्ध होता है कि श्रीहर्ष राजा जयंतचन्द्र के साथ काशी में पर्याप्त काल तक रहे थे, पर वह उनका वास-स्थान भी था, यह प्रमाणित नहीं होता। कान्यकुब्जेश्वर के साथ वे काशी में रहे होंगे, यही प्रमाणित होता है।

(३) कन्नौज-संबन्धी मत का आधार भी उनका कान्यकुब्जेश्वर से संबंध है, और यह निश्चित ही है कि उनके पिता भी कान्यकुब्जेश्वर काशी के अधिकारी नरेश के सभाकवि थे। इससे यह निश्चित है कि कान्यकुब्जेश्वर-शासित भूमि ही उनकी जन्मस्थली थी। इस पर विचार करते हुए डा० वाटू तथा डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल की मान्यता है कि श्रीहर्ष कन्नौज प्रांत के थे और काशी से उन्हें विशेष स्नेह था।

(४) बंगालविषयक मतवाद के कई आधार हैं। (१) 'गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति' और 'नवसाहसाङ्कचरित' का श्रीहर्ष द्वारा रचित होना। यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, पर स्वयं श्रीहर्ष ने इनके स्वरचित होने की अभिस्वीकृति दी है, अतः इनकी सत्ता निःसंदिग्ध है। 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' किसी बंग-नरेश की प्रशस्ति मानी जाती है। यह श्रीहर्ष के अनुसार 'गौडोर्वीश-कुलप्रशस्तिभणितिभ्रातरि' (नै० च० ७।११०) अर्थात् गौडदेशभूमि के पालक की प्रशस्ति है—'गौडदेशभूपालवंशस्य प्रशस्तिर्वर्णना' (प्रकाशटीका)। 'नवसाहसाङ्कचरित' की स्वीकृति 'नैषध' (२२।१५१) में है—'द्वाविंशो नवसाहसाङ्कचरिते'....इत्यादि। 'साहित्यविद्याधरी'—कार विद्याधर और 'प्रकाश'कार नारायण के अनुसार 'साहसाङ्क' भी गौडदेश के राजा थे। स्पष्ट है कि गौडभूपाल के विषय में प्रशस्ति लिखने वाला बंगदेशीय होना चाहिए। गौडोर्वीश को श्री आर. डी. सेन ने बंगाल का आदि सूर और श्रीरामप्रसादचन्द्र ने महीपाल प्रथम माना है। श्रीनलिनीनाथ दासगुप्त ने गौडोर्वीश से अर्थ लिया है, बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में बंगाल का शासक 'सेनवंश'। यह काव्य उनके अनुसार सेनवंश-प्रशस्ति है।

(२) यद्यपि राजशेखर ने श्रीहर्ष की जन्मभूमि काशी मानी है, पर श्रीहर्ष के वंशज हरिहर को 'हरिहरप्रबंध' में उन्होंने गौडदेशवासी बताया है। मैथिलकोकिल विद्यापति के अनुसार 'नलचरित' नामक काव्य के कर्ता कवि पण्डित श्रीहर्ष गौडदेश में हुए थे। ये 'नलचरित' की रचना करके काशी चले गये—'बभूव गौडविषये श्रीहर्षो नाम कविपण्डितः, स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा वाराणसीं जगाम।'

(३) भाषात्मक समानता और उच्चारण में बंगालीपन के आधार पर भी श्रीहर्ष को बंगाली माना गया है। डा० नीलकमल भट्टाचार्य ने इन्हीं के आधार पर श्रीहर्ष को बंगाली सिद्ध करने का प्रयास किया है। 'नैषध' में अनेक बंगाल और बँगला भाषा से संबद्ध शब्द ढूँढ निकाले गये हैं; उदाहरणार्थ—'फाल' (द्विफालबद्धाश्चिकुराः १।१६)—प्रो० हॉडिकी इस शब्द को 'असमी' भाषा का बताते हैं। निकटस्थ बंगाल से इसका संबंध सहज है। 'आलेपन' (क्वचित्तदालेपनदानपण्डिता। १५।१२)—इस शब्द का अर्थ 'प्रकाश' और 'जीवातु'—टीकाओं में 'हरिद्राचूर्णमिश्रित तण्डुलपिष्ट' किया गया है, जिसका प्रयोग 'चतुष्क-निर्माणार्थं (चौकपूरने के निमित्त) किया जाता था, यही बाँगला का 'अलपना' है। 'डिम्ब' (लसद्डिम्बमिवेन्दुबिम्बम् २२।५१ (जीवातु), ५३ (प्रकाश)—इसका अर्थ है 'बालक्रीडा-साधन-भ्रमरक' (लाटू, लट्टू)। बँगला में यही 'लाटिम' कहाता है। लालडिम्ब—लाडिम्ब—लाटिन। इसी प्रकार कई अन्य शब्द और श, ष, स; ण, न; ब, व; य, ज, आदि वर्णों का शब्दालंकारों में एक समान उच्चारण के आधार पर उपयोग देखकर ('बाँगला' में उक्त वर्णों में उच्चारण-भेद नहीं होता) डॉ० भट्टाचार्य ने श्रीहर्ष को बंगाली माना है।

(४) बंगाल की कुछ 'व्यवहार-परंपराओं, रीत-रवाजों' का साम्य भी 'नैषध' में खोज निकाला गया है। दमयन्ती स्वयंवर-प्रसंग (आननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार १४।५१) में 'उलूलु' ध्वनि बंगाली परंपरा है। नारायणपण्डित ने 'प्रकाश' टीका में ऐसा ही माना है—'विवहोत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गलगीतिविशेषो गौडदेशे 'उलूलुः' इत्युच्यते।' यद्यपि मल्लिनाथ (१४।४९) इसे 'उदीच्यानामुच्चारः' मानते हैं, तथापि

नारायण के अनुसार यह कवि के 'स्वदेश' अर्थात् बँगाल की रीति है। यों डा० सुशीलकुमार ने इसे अमान्य ठहराया है। उनके अनुसार 'उलूलु' ध्वनि अन्य प्रदेशों में भी मंगलोत्सव-अवसर पर अन्य कवियों द्वारा वर्णित है। गुजराती कवि वस्तुपाल और काश्मीरी कवि मुरारि ने भी 'उलूलु' ध्वनि का वर्णन किया है। इसी प्रकार विवाह-अवसर पर दमयन्ती का अन्य आभूषणों के साथ बँगाली रीति के आभूषण 'शंखवलय' का धारण करना (विरेजतुर्माङ्गलिकेन सङ्गतौ भुजौ मुदत्या वलयेन कम्बुनः। —१५।४५) वर-वधू के कुशबद्धकर (निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः —१६।१४), अलपना (१५।१२), वर को दर्पण दिखाना (सेवाचणदर्पणाम्—१५।७०) और वर का किरीट लगाना (स जन्ययात्रामुदितः किरीटवान्—१५।७२), मत्स्यमांसादि भोजन (अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धितेमनम्—१६।८७)—आदि परंपराओं के वर्णन के आधार पर श्रीहर्ष को बँगाली माना गया है, यद्यपि इनमें से अनेक रीति रिवाज केवल बंगाल के ही नहीं हैं। नैषध के १५।४५ की टीका में भले ही नारायणपण्डित ने शंख-वलय-धारण को गौडदेशाचार लिखा है—'गौडदेशे विवाहकाले शङ्खवलयधारणमाचारः', किन्तु डा० दे० ने 'महाभारत' (विराट्पर्व) में ऐसा ही उदाहरण दिखाकर इस परंपरा को केवल बंगाल की ही कहना अमान्य ठहरा दिया है।

डा० नीलकमल भट्टाचार्य 'चिंतामणि' मंत्र-साधना के आधार पर श्री हर्ष को बंगाली ठहराते हैं, क्योंकि बंगाल को तन्त्र का उद्भव माना जाता है, पर यह भी कोई पुष्ट आधार नहीं है, क्योंकि बारहवीं शती में समग्र भारत देश में तन्त्र का प्रचार-प्रसार था।

वस्तुतः ऐसा लगता है कि श्रीहर्ष के वंश का संबंध बंगाल से अवश्य था, क्योंकि उनके पौत्र कमलाकर गुप्त और उनके वंशज हरिहर को गौडदेशीय माना जाता है, इसके साथ ही यह भी प्रमाणित है कि श्रीहर्ष के जीवन का अधिकांश कन्नौज-काशी ही में व्यतीत हुआ। डा० ए. एन. जानी का समन्वयात्मक निर्णय इस विषय में उचित प्रतीत होता है कि रक्तसंबंध से श्रीहर्ष बंगाली थे, किंतु उनके पिता श्रीहीर और श्रीहर्ष कन्नौज-नरेश के

आश्रित थे और उनका कार्य-क्षेत्र कान्यकुब्जप्रदेश ही था। (ए क्रिटिकल स्टडी आफ नैषधीयचरितम्, पृ० १०९)।

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

'नैषधीयचरित' के आधार पर उसके रचयिता महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व स्पष्ट होने में कोई बाधा नहीं है। श्रीहर्ष उच्चकोटि के विद्वान् कवि, दार्शनिक, नैयायिक और तार्किक थे। 'चिन्तामणि'–मन्त्र के वे साधक ही माने जाते हैं। वे परम आस्तिक थे, शास्त्रमर्यादा को माननेवाले देवभक्त। विष्णु, शिव, सरस्वती के तो उपासक ही थे, यों देवता और दैवी प्रसाद पर पर उन्हें परम आस्था थी। पूर्वजन्म के पुण्यकृत्यों से संजात प्रारब्ध और कर्मवाद के वे विश्वासी थे, किन्तु दैव की इच्छा को भी परम सत्य के रूप में उन्होंने माना है। व्यक्ति के भालफलक पर लिखा ईश्वर-लेख शुभ हो या अशुभ, वह होगा ही—'अस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे तत्स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य।' (नै० १३।४९ या ५०)। विधाता की इच्छा जैसी होती है, उसी के अनुसार मानव-चित्त का व्यवहार बन जाता है। वात्या का अनुगमन जैसे विवश तृण करता ही है, वैसी ही उसकी स्थिति है—'अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा। तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना।' (नै० १।१२०)। नीति भी भाग्यबल से ही सफल हो पाती है—'भाग्यैरिव नीतिः' (नै० १५।५४)। दैवेच्छा का प्रतिकार सुरेश्वर भी नहीं कर सकता—'न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्त्तुमीश्वरः।' (९।१२६)।

भारत और भारती वाणी के प्रति उन्हें अगाध श्रद्धा थी। उनके अनुसार आर्यों में धुरिप्रतिष्ठित मनु आदि ने उसी प्रकार इलावृतादि वर्षों में भारत को स्तुतियोग्य माना है, जैसे समस्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम को—'वर्णेषु यद् भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।' (नै० ६।९७)। अर्थात् जैसे गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों का आधार हैं, वैसे ही भारत शेष इलावृत्तादि खंडों का। भारत स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वर्ग में केवल 'कल्याण' है, क्योंकि वह केवल 'भोगभूमि' है, उसमें धर्म (पुण्य) नहीं है, वह तो केवल

कर्मभोग भूमि भारत में ही है–'स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।' (नै० ६।९८)। इसके अतिरिक्त साधु–धार्मिक को भी स्वर्ग से अधःपतित होना ही पड़ता है, परन्तु धर्मी भारत से तो ऊर्ध्व-गति पा स्वर्ग जाता है—'साधोरपि स्वः खलु गामिताधोगामी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे।' (तदेव ९९)।

श्रीहर्ष ने भारत की वाणी संस्कृत को 'दैवी वाक्' (नै० १०।५६) 'दिव्यवाक्' (तदेव ५८) कहा है, पृथ्वी पर विना क्लेश जिसका प्रादुर्भाव वाल्मीकि के कण्ठपथ से हुआ और जो स्वर्ग में कवि शुक्राचार्य के वचनमाला-गुम्फन का आधार बनती है।

श्रीहर्ष राजकवि थे, जिनका आदर गुण-स्नेहल राजा 'सचातुर्वर्ण्य' करता था और लक्ष-लक्षसंख्यक हेम-सुवर्ण उनपर न्योछावर करता था। विलास-ऐश्वर्य उनके चरणों पर लोटता था, पर वे इन्द्रियाधीन नहीं हुए, 'स्वपरिचय' में सर्वत्र उन्होंने अपने को 'जितेन्द्रियचय' कहा है। उनका काव्य-नायक नल 'दारसार', स्त्रियों में रत्नभूता भीमनन्दिनी को पाकर भी, उस 'तृतीय-पुरुषार्थवारिधिपारलम्भनतरी' के साथ 'दिवानिश-भोगभाक्' रहकर भी 'ज्ञानधौतमनाः' बना रहता, अर्थात् विषयसुख भी उसकी आत्मवित्ता को प्रभावित न कर सके। (नै० १८।२)।

श्रीहर्ष पण्डित तो अगाध थे ही, साहित्य, न्याय, तर्क आदि विषयों के तो समान ज्ञाता थे, इसके साथ ही वेद–वेदाङ्ग, षड्दर्शन, संगीत, गणित आयुर्वेद, धनुर्वेद, सामुद्रिकविद्या, ज्योतिष, पुराणादि, नीतिशास्त्र के भी उद्भट ज्ञाता थे। 'नैषधीयचरित' में उनके शास्त्रवेत्ता होने के यत्र-तत्र प्रमाण मिलते हैं। परन्तु अपने दर्प पर आघात उन्हें स्वीकार्य नहीं था। सबसे बड़ा अभिमान था उन्हें अपने कृतित्व पर। उनका कृतित्व सुधी-जनों द्वारा मान्य होना चाहिए, अल्पबुद्धि कुमारों की उन्हें चिन्ता नहीं—'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः।' (नै० २२।१५१)। उनके 'काव्यरसोर्मिप्रवाह' में वही सज्जन 'मज्जनसुखव्यासज्जन' (स्नानसुख) पा सकता है, जिसने श्रद्धापूर्वक गुरु की अराधना की है, 'प्राज्ञंमन्य' खल इसमें खेल करने का दुष्प्रयत्न न करे। (तदेव १५१)।

श्रीहर्ष अतिथिदेव, गृहस्थ, अयाचितव्रती और कृतज्ञ सत्पुरुष थे। कहने पर नहीं, करने पर उनकी आस्था थी। सज्जनों की उपयोगिता उनके क्रिया-फल से प्रमाणित होती है, कथन से नहीं–'ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्।' (नै० २।९८), गुणों की प्रशंसा न करना उनके अनुसार वाणी की निष्फलता थी—'वाग्जन्यवैफल्यमसह्य शल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।' (नै० ८।३२)। धर्म उनके लिए कट्टरपना नहीं, जीवन-यापन की एक क्रिया थी, आवश्यकता होने पर जिसे शिथिल किया जा सकता था। उनका धर्माचरण जड़ नहीं था, गतिशील था—'निषिद्धमप्याचरणीय-मापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।' (नै० ९।३६) यों सामान्यतः वे चाहते यही थे कि कृच्छ्र से कृच्छ्र दशा में भी धर्म से चित्त स्खलित न हो—'कृच्छ्रं गतस्यापि दशाविपाकं धर्मान्न चेतः स्खलतु।' (नै० १४।८१)।

ऐसा मनस्वी, महापंडित, रसिकशिरोमणि, कलासर्वज्ञ अन्त में एक दुरभिमानिनी नारी के हाथों अवमानना न सह सका और अपनी अभीष्ट जीवन-यापन-पद्धति को अपनाकर गंगातीरवासी हो गया तो इसमें अचरज नहीं होना चाहिए। जीवन-यापन के लिए उसे और अपेक्षित ही क्या था? फल मूल, गंगा का निर्मल सलिल—'फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।' (नै० १।१३३)। ये राजहंस के ही वचन नहीं, कवि श्रीहर्ष का अभीप्सित जीवन-विलास था, जो समाधि में परब्रह्मप्रमोदार्णव का साक्षात् करता था—'यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम्!'

श्रीहर्ष की कृतियाँ

'प्रबन्धकोष' में राजशेखर की मान्यता को यदि प्रमाण माना जाय तो श्रीहर्ष शताधिक ग्रन्थों के रचयिता ठहरते हैं। इस समय श्रीहर्ष के केवल दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—(१) नैषधीयचरित, (२) खण्डनखण्डखाद्य। 'नैषधीय-चरित' कुछ सर्गों के अन्तिम परिचय–श्लोकों में श्रीहर्ष ने स्वयम् अपनी कृतियों के नाम दिये हैं। ये इस प्रकार हैं :—(१) स्थैर्यविचार (चतुर्थ सर्ग), (२) विजयप्रशस्ति (पंचम सर्ग), (३) खण्डनखण्डखाद्य (षष्ठ सर्ग), (४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति (सप्तम सर्ग), (५) अर्णववर्णन (नवम सर्ग)

(६) छिन्दप्रशस्ति (सप्तदश सर्ग), (७) शिवशक्तिसिद्धि (अष्टादश सर्ग), (८) नवसाहसाङ्कचरित (द्वाविंश सर्ग)। 'खण्डनखण्डखाद्य' में पाँच स्थानों पर उनके एक और ग्रन्थ (९) 'ईश्वराभिसन्धि' का नाम भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के अनेक इतिहासकारों ने उनके दो और ग्रन्थों के नाम दिये हैं–(१०) पञ्चनलीयकाव्य और (११) द्विरूपकोष। 'नैषधीयचरित' को मिलाकर इस प्रकार श्रीहर्ष की कृतियों की संख्या बारह हो जाती है। जैसा कि कहा जा चुका है, इन बारह नामाङ्कित ग्रन्थों में केवल दो प्राप्त हैं—

(१) खण्डनखण्डखाद्य

यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है। 'खण्डनखण्ड' अर्थात् खाँड़ (कच्ची शक्कर) का 'खाद्य', भोज्यपदार्थ। परंतु यह ग्रन्थ अत्यंत कठिन है। यह गन्ने से बनी खाँड के समान सरल खाद्य तो नहीं हैं, जिसे सरलता से घोल कर पी लिया जाय, परन्तु इक्षुखण्ड से खाँड बनाने की क्रिया के समान एक श्रमसाध्य खाद्य-विषय अवश्य है; जिसमें नैयायिक पद्धति का आश्रय ले न्याय का खण्डन और अद्वैत सिद्धांत का मण्डन किया गया है। माना जाता है कि सोलहवीं शती में शंकर मिश्र का 'वादविनोद' इसी पद्धति पर रचा गया। इस ग्रन्थ में यह माना गया है कि आत्मा अज्ञेय है, परन्तु उसकी सत्ता है। कोई पदार्थ निश्चित रूप से 'सत्' अथवा 'असत्' नहीं कहा जा सकता। सभी सन्देहास्पद है। केवल निःसंदिग्ध है, सर्वव्यापिनी चेतना। मानवी बुद्धि नितान्त असमर्थ है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार 'खण्डनखण्डखाद्य' अद्वैत दर्शन का महान् ग्रन्थ है।

(२) नैषधीयचरित

'नैषधीयचरित' श्रीहर्ष की सर्वाधिक चर्चित और विख्यात कृति ही नहीं संस्कृत और भारतीय साहित्य का एक गौरवग्रन्थ है। उनका यह 'मधुवर्षि काव्य' है जो स्वयम् उनके ही अनुसार चिन्तामणि-मन्त्र-सामर्थ्य से रचा जा सका है—'तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले' (नै० १।१४५)। यह काव्य बाईस सर्गों में विभक्त है, जिनमें प्रायः शताधिक श्लोक हैं, सत्रहवें सर्ग में तो दो सौ

बाईस श्लोक हैं। केवल तेरहवाँ पन्द्रहवाँ और उन्नीसवाँ सर्ग ऐसा है, जिनकी श्लोक-संख्या सौ से कम हैं। संपूर्ण सर्गों में १४५+११०+१३६+१२३+१३८+११३+११०+१०९+१६०+१३७+१३०+११३+५६+१०१+९३+१३१+२२२+१५४+६८+१६२+१६४+१५५ के क्रम से संपूर्ण काव्य में दो हजार, आठसौ, तीस श्लोक (२,८३०) हैं। विभिन्न संस्करणों में इस गणना में अन्तर है।

नैषधीयचरित की कथावस्तु और उसका आधार

नलदमयन्ती की कहानी भारतीय जीवन की प्रसिद्ध कथा है। यह केवल 'सुधावधीरणी' ही नहीं है, 'कलिनाशिनी' भी है—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्॥' माना जाता है कि यह त्रेतायुग की कथा है। निषधराज नल का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी है और यह अनेक पुराणों में भी पायी जाती है—मत्स्य, स्कन्द, वायु, पद्म, अग्नि आदि में और 'महाभारत' में भी। सोमदेव भट्ट के 'कथासरित्सागर' में भी यह कथा है। समीक्षा करने से यह प्रतीति होती है कि श्रीहर्ष ने स्वकाव्य रचना में मुख्यतया 'महाभारत' की कथा को आधार बनाया है। इस प्रकार यह कहना समीचीन लगता है कि 'नैषधीयचरित' का उपजीव्य महाभारत का नलोपाख्यान है।'

महाभारत के वनपर्व में 'नलोपाख्यान' उनतीस अध्यायों (५८–७८) में है। इस आख्यान का उद्देश्य है धैर्य-धारण की प्रेरणा देना। घोर विपत्ति में भी जो धैर्यधारण कर विपत्ति दूर करने का अविचलित उद्योग करते हैं, 'विपदि धैर्यम्' जिनका विश्वास है, वे ही महात्मा हैं। नल ने अनेक विपदाएँ झेलकर अन्त में पुनः अपना राज्य प्राप्त किया और 'पुण्य-श्लोक' कहलाये। पांडवों पर भी ऐसी ही विपदा थी। कौरव दुर्योधन से द्यूत-कपट में सर्वस्व गंवाकर वे द्वैतवन में संकट के दिन काट रहे थे। तृतीय पांडव अर्जुन दिव्यास्त्र-प्राप्ति के निमित्त दैवी सहायता के उद्योग में शेष पांडवों से दूर थे। दुःखी युधिष्ठिर किंकर्तव्य-विमूढ थे कि महर्षि बृहदश्व वहाँ पहुँचे और उन्हें धीरज बँधाने के लिए 'नलोपाख्यान' सुनाया। संक्षेप में वीरसेन-सुत निषधाधिपति नल और विदर्भ-राजकुमारी दमयन्ती का परस्पर आकृष्ट होना, विरही नल

का हंस-दूत द्वारा दमयन्ती के पास सन्देश-प्रेषण और उत्तर-प्राप्ति, दमयन्ती स्वयंवर, इन्द्रादि देवों की उसमें उत्सुकता, नल-दमयन्ती-विवाह, कलि का क्रोध, कलि द्वारा प्रवृत्त पुष्कर से नल की द्यूत में पराजय और वनवास, दमयन्ती-त्याग और विरूप नल का अयोध्या में राजसारथि होकर वास, नल की दमयन्ती के दूतों द्वारा खोज और समाचार-प्राप्ति, पुनः स्वयंवर में अयोध्या नरेश के साथ आये नल की पहिचान और पुनः दमयन्ती-प्राप्ति तथा पुष्कर से ५ राज्य का पुनः पा लेना—'नलोपाख्यान' है। श्रीहर्ष ने केवल इस उपाख्यान के प्रथम छः अध्यायों की कथा को ही अपने महाकाव्य का आधार बनाया है और अपने कवित्व का विशिष्ट परिचय दिया है। कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यही 'वृत्त' 'कथासरित्सागर' में भी है।

महाभारत की कथा में भी श्रीहर्ष ने अपनी कल्पनाशक्ति से अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन किये हैं और उसे चारुतर बनाया है। संक्षेप में उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) 'नलोपाख्यान' के प्रथम अध्याय की कथा 'नैषध' के प्रथम तीन सर्गों में है। इस परिवर्द्धन के साथ उसमें कुछ वर्णन-भेद भी है। 'नलोपाख्यान' में नल को हंस जिस उद्यान में मिला, वह एक सामान्य उद्यान है, 'नैषध' में वर्णित वह विशिष्ट उद्यान है, जहाँ पकड़े हंस को करुणाद्रवित नल ने मुक्त कर दिया और प्रत्युपकारी हंस ने नल का दूतकर्म स्वेच्छया स्वीकारा। 'नलोपाख्यान' में हंस की मुक्ति तब होती है, जब वह दूतकर्म का वचन दे देता है। 'नलोपाख्यान' में अनेक हंस दमयन्ती के पास पहुँचे हैं, 'नैषध' में एक ही।

(२) 'नलोपाख्यान' में दमयन्ती की सखियों से उसकी अस्वस्थ दशा का समाचार पाकर विदर्भनरेश स्वयंवर का प्रबन्ध कराते हैं, 'नैषध' में समुत्थित 'विपुल कलकल' को जान कर राजा भीम पुत्री के पास पहुँचते हैं और लज्जावनता, विरहिणी दमयन्ती को देखकर स्वयंवर की घोषणा करते हैं।

(३) देवों का दूतकार्य 'नलोपाख्यान' में नल ने पूर्वविश्रुत होकर किया है, प्रतिज्ञा-भंग-दोष से बचने के लिए; जब कि 'नैषध' में देव-याचकों को

पाकर प्रियतमा दमयन्ती का भी एक प्रकार से दान करने के लिए निषधपति हर्ष के साथ तैयार हो जाता है।

(४) प्रसन्न देवों के वरदानों में भी दोनों में अन्तर है। 'नलोपाख्यान' में प्रत्येक देव ने दो-दो वर दिये, इस प्रकार नल को आठ वरदान मिले, जब कि 'नैषध' में इन्द्र ने तीन वर नल को दिये और एक दमयन्ती को। श्रीहर्ष के नल को अग्नि ने तीन वर दिये, जिनमें एक 'नलोपाख्यान' के समान है। यम से प्राप्त दो वरों में भी एक 'नलोपाख्यान' में मिलता है; हाँ वरुण के वर एक-से हैं। 'नलोपाख्यान' में न चिन्तामणि मन्त्र है और न इसी से सम्बद्ध सरस्वती का वरदान। यह वर अपनी कवि-कल्पना है। नलोपाख्यान में दमयन्ती को दिये गये वरों का भी उल्लेख नहीं है।

(५) 'नलोपाख्यान' में नल-परिणय से क्रुद्ध कलि द्वापर के साथ निषध-देश पहुँचता है और बारहवें वर्ष में उसे स्वकार्य-सिद्धि का अवसर मिलता है। नल मूत्रोत्सर्ग के बाद बिना पैर धोये ही संध्या करते हैं। और कलि उनमें प्रविष्ट हो जाता है। 'नैषध' में कलि निषध-देश की राजवाटिका में छिपा-छिपा नल-दमयन्ती-विलास को देखता है।

(६) श्रीहर्ष ने दमयन्ती की सहचरी कला, काम, क्रोध, मोह, लोभ (कामसहचर), इन्द्र की दूती, वाग्देवता सरस्वती —इन नवीन पात्रों की कल्पना की है, जिनकी मूल-उपाख्यान में चर्चा नहीं है।

(७) अनेक वर्णन श्रीहर्ष की कल्पना के ही श्रेष्ठ उदाहरण हैं। वर्णन की समृद्धि तो श्रीहर्ष के अपार वैदग्ध्य और नैदुष्य की परिचायिका है। वृक्ष, सरोवर, नगर, हस, हंस की उड़ान, अश्व, अश्व की गति, स्वयंवर, विवाह, विवाह का उल्लास-उत्सव, कलि के माध्यम से चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन, काम-केलि, प्रभात, संध्या, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि के चित्रण कवि की अपार कल्पना-शीलता के द्योतक हैं, जो सर्वथा नवीन हैं।

(८) शृंगार और प्रणय की विविध स्थितियों का अत्यन्त समृद्ध वर्णन स्वयं श्रीहर्ष की कल्पना है। इसके साथ ही हंस नल-प्रसंग में कारुण्य की जो स्वाभाविकता है, वह तो कवि के विशिष्ट संवेदन की परिचायिका है।

(९) 'नलोपाख्यान' की सरल छोटी कथा 'नैषधीयचरित' में बहुत-थोड़ी ही ली गयी है। 'नलोपाख्यान' से आदि के छः सर्गों की घटना को लेकर श्रीहर्ष ने विशाल; श्लोक राशि से संपन्न बाईस सर्ग रचे हैं। 'नलोपाख्यान' के १८६ छोटे अनुष्टुप् छन्दों में रची गयी कथा 'नैषध' में अठ्ठाईस-सौ मनोरम छन्दों में विस्तृत है।

(१०) 'नलोपाख्यान' एक उपदेश-कथा है, जब कि 'नैषधीयचरित' एक सरस, मनोरम महाकाव्य।

क्या 'नैषध' अपूर्ण महाकाव्य है ?

महाभारत के 'नलोपाख्यान' में उनतीस अध्यायों में जो नल-कथा है, वह नल के पुनः राज्य-प्राप्त करने पर पूर्णता को प्राप्त हुई है। यह एक स्वाभाविक स्थिति है। इसी आधार को लेकर यह प्रश्न उठजाता है कि क्या 'नैषधीयचरित' एक अपूर्ण महाकाव्य है ? यह तो स्पष्ट ही है कि 'नैषध' का जो रूप आज प्राप्त है, उसमें सम्पूर्ण नलोपाख्यान नहीं है, केवल नल-दमयन्ती के आमोद-प्रमोद के उल्लास में वह समाप्त हो जाता है। 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' के स्वर में 'पञ्चबाण' की उपासना के निमित्त दमयन्ती का आह्वान करता नल-नरेश अपने को प्रिया के कामपूजन में सहायक-परिचारक के रूप में उपस्थित करदेता है—'भवतु जनः परिचारकस्तवायम्' और इसके तुरन्त बाद 'काव्यसमाप्ति' का 'चिकीर्षु' कवि नायकमुख से आशीर्वचन प्रस्तुत करा देता है कि इस 'परिणयानन्दाभिषेकोत्सव' में 'प्राप्तसहस्रधारकलश्रीः देव' 'चन्द्र' हमारे परमानन्द का कारण बनें—'परिणयानन्दाभिषेकोत्सवे देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तु नस्तुष्टये।' इस स्थिति में इस उपाख्यान के 'नैषधीयचरित' में पूर्ण रूप से न होने के दो कारण हो सकते हैं—(१) श्रीहर्ष ने किसी कारणवश इतने ही कथाभाग को अपने काव्य के लिए उपयुक्त समझा। (२) श्रीहर्ष ने पूरी कथा का उपयोग करके महाकाव्य लिखा, परन्तु प्राप्त इतना ही—द्वाविंशसर्गात्मक होता है, शेष नष्ट हो गया।

इस द्वितीय मतवाद के पोषकों का कथन है कि श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित' पुष्कर से द्यूत में पराजित हो भटके नल-दमयन्ती के पुनर्मिलन और

पुनः राज्यप्राप्ति पर पूर्ण हुआ था और उसमें साठ सर्ग थे। कुछ विद्वान् एक-सौ तीस सर्गों की बात कहते हैं। इन विद्वानों की मान्यता है कि जैसे श्रीहर्ष के अन्य ग्रन्थ कालकवलित हो गये, 'नैषध' के अप्राप्य अंश के साथ भी वैसा ही हुआ।

'नैषधीयचरित' अपूर्ण महाकाव्य है—इसकी पुष्टि में प्रधानतया तीन तर्क दिये जाते हैं–(१) इस महाकाव्य का नाम 'नैषधीयचरित' है, अर्थात् यह एक चरितकाव्य' है, जिसमें नायक का पूर्ण चरित होना चाहिए। नल-चरित पुनः राज्यप्राप्ति पर ही पूर्ण होता है। उसकी सहिष्णुता, धैर्यधनता आदि चारित्रिक विशेषताएँ नल के उत्तर चरित्र में ही पूर्णतः स्पष्ट होती हैं। अतः यह मानना समीचीन लगता है कि धैर्यधनता और अपार कल्पना के स्वामी श्रीहर्ष ने पूर्ण चरित ही लिखा होगा; प्राप्त अपूर्ण ही है। (२) नल-दमयन्ती-स्वयंवर के पश्चात् देवों ने दोनों को वर दिये थे और अम्बर में आश्रय लिया था—'इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु····। (नैषधीय० १४। ९५–१)। 'नैषध' के वर्तमान रूप में इन वरों की सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती। (३) कलि ने कहा था कि हे विज्ञ देवों, आप मुझ कलि की यह प्रतिज्ञा नल को ज्ञात करादें कि (आज का पराजित मैं) नल को एक दिन जीतूँगा—उसे भैमी और भूमि-दोनों से विहीन बना दूँगा। मेरे और नैषध के विरोध की प्रचंडता का गान कविगण प्रचंडतेजोमय सूर्य और कुमुदों के वैर समान करेंगे—'प्रतिज्ञेयं नले विज्ञाः कलेर्विज्ञायतां मम। तेन भैमीं च भूमिं च त्याजयामि जयामि तम्॥ नैषधेन विरोधं मे चण्डतामण्डिनौजसः। जगन्ति हन्त गायन्तु रवेः कैरवकैरवत्॥ (नै० १७।१३८,१३९)। महाकवि श्रीहर्ष को यदि यह वैर-गान अपेक्षित न होता तो वे 'यह सब' भी क्यों लिखते ? यदि वे इसे व्यर्थ समझते थे, तो कलि-प्रसंग की ही उपेक्षा कर देते, सत्रहवें सर्ग की आवश्यकता ही उस स्थिति में नहीं थी।

श्री नीलकमल भट्टाचार्य ने 'नैषधीयचरित' की अपूर्णता अथवा खंडितता के पक्ष में प्रायः इन्हीं तर्कों का आश्रय लिया है।

इसके विरुद्ध 'नैषधीयचरित' की वर्तमान रूप में ही पूर्णता के पक्षपाती सबसे पहिले तो 'नैषधीयप्रकाशटीका' के विद्वान् कर्ता नारायण के इस

कथन को प्रमाण मानते हैं—'महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसत्वान्नायकानुदयवर्णनेन रसभङ्गसम्भवाच्च काव्यस्य च सहृदयाह्लादन-फलत्वाच्चोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितमित्यादि ज्ञातव्यम्'।

श्रीहर्ष ने नल के उत्तर चरित्र का वर्णन इसलिए नहीं किया कि वह नीरस है, उसमें नायक की बुरी दशा का वर्णन है, उसके वर्णन से रस-भंग होता और काव्य सहृदयों के आह्लाद के निमित्त होता है, उन्हें खेद देने के लिए नहीं। अत एव महाभारत-आदि में वर्णित संपूर्ण नल-चरित का उपयोग श्रीहर्ष ने नहीं किया।

'साहित्यविद्याधरी' में भी कुछ ऐसा ही कहा गया है—'ननु महाभारते नलोपाख्यानस्यैव वक्तुमुचितत्वात् श्रीहर्षेणोपाख्यानैकदेशे काव्यविश्रान्तिः कथं कृता, सकलनलोपाख्यानस्यैव वक्तुमुचितत्वात्। सत्यम्। काव्यं हि सहृदयहृदयानामावर्जकं भवति। हृदयावर्जकं च काव्यं स्वरसेन क्रियते। तत्र च पुनरेतिह्ये, एकदेशे सरसत्वं दृश्यते। तत्रैवानेनापि विश्रान्तिः कृता।' अर्थात् काव्य होता है सहृदयों की मनस्तुष्टि के निमित्त, जो स्व-रस से ही सम्पन्न होती है, यह स्वरसता जितना कथांश वर्तमान 'नैषध' में है, उस कथा के एक देश में ही है, सो श्रीहर्ष ने यहीं अपना काव्य पूर्ण कर दिया। कीथ भी 'नैषध' के उतने विस्तार को विश्वसनीय मानते हैं।

श्री भट्टाचार्य के तीनों अपूर्णता के आधारों का अब खण्डन कर दिया गया है। प्रथम मत के खण्डन में कहा गया है कि 'नैषध' चरित-काव्य भले ही हो परन्तु श्रीहर्ष को केवल 'पुण्य-श्लोक' नल का आनन्ददोल्लास स्वकाव्य में वर्णित करना था, क्योंकि उनका 'नैषधीयचरित' महाकाव्य 'शृङ्गार-भङ्गया' (नै० १।१४५) 'चारु' है। शृंगारसप्रधान काव्य में प्रधानता शृङ्गार-प्रसंग को ही देनी होती है, जिससे सहृदयाह्लाद हो। इसके निमित्त नल-दमयन्ती-उल्लास-विलास तक का ही उपाख्यान उपयुक्त है, उत्तरचरित्र उपयुक्त नहीं, उससे खिन्नता आयेगी। शृंगार के वियोग-संयोग—दोनों पक्षों का मर्मस्पर्शी चित्रण इतने अंश में भलीभाँति हो गया है। इसके अतिरिक्त यह नल-कथा नल को महत्त्व देती है, उत्तरचरित्र में तो नल की महत्ता रह

ही नहीं जाती, वह तो भाग्य के हाथ का एक खिलौना मात्र रह जाता है—करुणोत्पादक। उनका उदात्तचरित्र इस पूर्वकथा में उद्घाटित हो गया है। इसके अतिरिक्त उत्तरचरित्र में नल-दमयन्ती-वियोग हो जाता है, यह वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि विवाहोपरांत नल के द्वारा दमयन्ती का दिया वचन इससे झूठा पड़ जाता। कविने 'असत्यकातर' नल से दमयन्ती को वचन दिलाया है—'नोज्झिताऽस्मि भवती तदित्ययं व्याहरद्वरमसत्यकातरः।' (नै० १८।४९)। मैं (नल) तुम्हें (दमयन्ती) को कभी न छोड़ूँगा। क्या उत्तरचरित्र का वर्णन कर कवि अपने उदात्त नायक को वचन-भंग का दोषी बना देता? उत्तरचरित्र में तो वन में नल ने दमयन्ती का त्याग किया है—'जगामैका वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः।' (नलोपाख्यान १०।२९)।

देव-वरों का उपयोग 'नैषध' में हुआ है। सामूहिक रूप से दमयन्ती को वर दिया गया था कि तुम्हें अभीष्ट देह-परिवर्तन की विद्या प्राप्त हो—'आप्तुमाकृतिमतो मनीषितां विद्यया हृदि तवाप्युदीयताम्' (नै० १४।९१ अथवा ९४)। इस वर का उपयोग किया गया है लीलाविलासरता दमयन्ती द्वारा नल को रिझाने के लिए अनेक दिव्यांगनाओं का वेष बना-बनाकर नित्य नवीन दीखते हुए—'रूपवेषवसनाङ्गवासनाभूषणादिषु पृथग्विदग्धताम्। साऽद्यदिव्ययुवतिभ्रमक्षमा नित्यमेत्य तमगान्नवा नवा।' (नै० १८।७४ या ७९)।

इसी प्रकार वरुण ने नल को वर दिया था कि नल की इच्छानुसार मरुस्थल में भी जल हो सकेगा—'यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः।' (नै० १४।८० या ८३) इस वर का उपयोग किया गया है परिहास कुशला सखियों को अपने विलासगृह में रिक्त चुलुक फेंक कर भिगो देने में—'तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम्। ताभ्यामलम्भि दूरेऽपि नलेच्छापूरिभिर्जलैः॥ वरेण वरुणास्यायं सुलभैरम्भसां भरैः। एतयोः स्तिमितीचक्रे हृदयं विस्मयैरपि॥ (नै० २०।१२५–१२६ या १२६-१२७)।

हाँ, सम्पूर्ण वरों का प्रयोग इस कथा में नहीं हो पाया है, संभव ही नहीं था। जहाँ तक कलि-कलह का प्रश्न है, यह प्रसंग उल्लास, आनन्द का प्रसंग नहीं है; यह तो 'पाप-कथा' है। 'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे'—'पापकथा'

तो अकल्याणकरी होती ही है; सो यदि रसराज शृंगार के धनी कवि द्वारा वह नहीं कही गयी, तो आश्चर्य नहीं। पापी की प्रतिज्ञा पूर्ण हो, यह श्रीहर्ष का अभीष्ट ही नहीं है। श्रीहर्ष की दृष्टि में कलि 'पाप' था—'कलिः प्राप म्लापयितुं पापः।' (१७।१६१ प्रकाश टीका)। वह बहुत दिनों तक भटकता रहा, पर उसे पैर टिकाने को भी स्थान न मिला—'न प्रसारयितुं कालः कलिः पदमपारयत्।' (नै० १७।१६३)। बहुत दिन इधर-उधर भटकने पर उसे स्थान भी मिला तो गृहोद्यान के लांछनभूत 'बिभीतक' कुटवृक्ष पर (नै० १७।२१२)। वहाँ भी पड़े-पड़े वह राजर्षि नल का कुछ न बिगाड़ पाया और बहुत से वर्ष व्यतीत हो गये थे उसे नल में कोई कलुष नहीं मिल सका—'बिभीतकमधिष्ठाय तथा भूतेन तिष्ठता। तेन भीममुवोऽमीकः स राजर्षिरधर्षि न॥ तमालम्बनमासाद्य नैदर्भीनिषधेशयोः। कलुषं कलिरन्विष्यन्नवात्सीद्वत्सरान् बहून्।' (नै० १७।२१६-२१७)। श्रीहर्ष ने लिखा है—स्फारे तादृशि वैरिसेन-नगरे पुण्यैः प्रजानां घनम्। विघ्नं लब्धवतश्चिरादुपनतिस्तस्मिन् किलाभूत्कलेः। वैरिसेन नल के प्रजाजन के पुण्यों से धर्मबहुल विशाल नगर में, सुना जाता है—कलि बहुत दिनों तक लड़ता रहा (नै० १७।२२१)। 'प्रकाश' कार ने इस पर लिखा है कि कवि ने कलि-कलह से उत्पन्न नायक के पराभव-वर्णन अवर्णनीय माना, अतः नहीं कही वह 'पापकथा'—'कलिकर्तृकपराभवस्य भविष्यत्त्वान्नाय-कापकर्षस्यावर्णनीयत्वाच्च स नोक्तः।'

महाकवि श्रीहर्ष रससिद्ध अमर कवि हैं, वे इतिहास या घटनाओं के लेखक मात्र नहीं। घटना वर्णन मात्र से कविपद प्राप्त भी नहीं होता। आनन्दवर्द्धना-चार्य ने स्पष्ट कह दिया है—'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणात्मपदलाभः।' श्रीहर्ष 'व्युत्पत्तिमात्र' देने वाले इतिहासकार नहीं थे, जिनके विषय में धनञ्जय ने कहा है :—'आनन्दनिस्पन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः। योऽपी-तिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥' (दशरूपक १।६)।

महाभारतकार की भाँति किसी बृहदश्व मुनि द्वारा विपद्ग्रस्त युधिष्ठिर को 'विपदि धैर्यम्' की शिक्षा देने के लिए कहा गया यह 'नलोपाख्यान' नहीं है, यह 'नैषधीयचरित' 'सहस्रधारकलश श्री' देव की मधुवर्षा से रसिक सुधीजन को 'रसोर्मिमज्जनसुख' देने वाला शृङ्गारोज्ज्वल महाकाव्य है।

संभावना यही है कि बाईस सर्ग में ही 'नैषध' पूर्ण है, जितनी भी टीकाएँ प्राप्त हैं, द्वाविंश सर्गात्मिका ही हैं।

नैषध : संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा का गौरव

आदिकवि वाल्मीकि रचित आदि महाकाव्य 'रामायण' से जिस संस्कृत-महाकाव्य-परंपरा का समारंभ हुआ, कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव', भारवि के 'किरातार्जुनीय' और माघ के 'शिशुपालवध' से जो पुष्ट हुई, श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' उस परंपरा का एक गौरव ग्रन्थ है। पुण्यश्लोक निषधनरेश नल के पवित्र चरित्र को आधार बनाकर लिखा गया यह महाकाव्य इस परम्परा की अन्तिम महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। कहा तो यहाँ तक गया है कि नैषध-काव्य के संमुख न माघ कवि का काव्य ठहरता है, न भारवि का—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।'

भारतीय आचार्य-परम्परा में 'काव्यादर्श' के रचयिता दंडी के अनुसार 'सर्गबंध' महाकाव्य कहा जाता है—'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते।' उसके लक्षण उन्होंने इस प्रकार बताये हैं :—

आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्।
इतिहासकथोद्भूतमन्यद्वापि सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।
अलङ्कृतमसंक्षिप्तरसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायेत तदलङ्कृतिः॥ (काव्यादर्श/१४-१९)।

अर्थात् महाकाव्य का आरम्भ आशीष, नमस्कार और (अथवा) 'वस्तु' के निर्देश से होना चाहिए, जिसका आधार कोई ऐतिहासिक कथा हो, यों इतिहासा-

तिरिक्त भी आधार हो सकता है। चतुर्वगफल-प्राप्ति का उसे साधक होना चाहिए; उसका नायक चतुर और उदात्त हो। नगर समुद्र, पर्वत, ऋतुएँ, चन्द्र-सूर्य, उद्यान, जलक्रीडा, मधुपान, रत, उत्सव, वियोग-संयोग का वर्णन होना चाहिए; युद्ध, मंत्रणा, दूतप्रयाणादि द्वारा चरित नायकों का उदय दिखाया जाना चाहिए। वह अलंकारों से सज्जित हो, संक्षिप्त न हो, रस-भाव के नैरन्तर्य से परिपूर्ण हो। अनतिविस्तीर्ण, कर्णप्रिय छन्दों से युक्त, संधिसमन्वित, अनेक लोकरंजक वृत्तान्तों से पूर्ण काव्य श्रेष्ठ और चिरस्थायी बनता है।

'काव्यालंकार'—रचयिता भामह ने संक्षेप में लगभग ये ही बातें बतायी हैं:—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं जातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥

रुद्रट ने अपने 'काथालंकार' (१६।५–१९) में इन्हीं लक्षणों को विस्तार से कहा हैं। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में विद्यानाथ ने महाकाव्य का लक्षण बताते हुए कहा है:—

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनम्।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवाः॥
विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम्।
मन्त्रद्यूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदया अपि॥
एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते। (प्र० यशो० २।६८–७०)

स्पष्ट है कि विद्यानाथ ने दण्डी के लक्षण को लगभग दुहरा दिया है। कुमारस्वामी सोमपीथी ने इसकी व्याख्या में कह ही दिया है—तत्प्रपञ्चस्तु काव्यादर्शे द्रष्टव्यः।

विस्तृतरूप में विश्वनाथ ने महाकाव्य को निरूपित किया है। इस निरूपण में कोई विशेषता कहने से बच नहीं पायी है:—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
एकवृत्तपदैः पद्यैरवसानेन्यवृत्तकैः ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः काचन दृश्यते ॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥

– साहित्यदर्पण, ६।३१६–३२५ ।

इस विवरण में महाकाव्य का प्रत्येक अंग आ जाता है—इतिवृत्त और उसकी संरचना, पात्र (नायक), रस, छंद, प्रकृत्यादि का वर्णन, काव्य-नाम, उद्देश्य ।

(१) इतिवृत्त—महाकाव्य सर्गबंध होता है, इन्हीं में विभक्त उसका इतिवृत्त अच्छा हो कि ऐतिहासिक हो, किंतु किसी अन्य सद्–व्यक्ति को भी उसका आधार बनाया जा सकता है । नाटकादि के लिए निर्दिष्ट पंचसंधियों के अनुरूप यदि वृत्त-संरचना हो तो अधिक उपयुक्त हो सकती है । इसका निर्देश

प्रारंभ मे ही हो सकता है, आशीष्-नमस्क्रिया के साथ। जहाँ तक सर्गों का प्रश्न है, वे आठ से अधिक होने चाहिएँ, वे न तो बहुत बड़े हो, न बहुत छोटे ही। सर्गान्त में कथा की सूचना दी जानी अच्छी होती है।

(२) पात्र—महाकाव्य का नायक देवता हो अथवा धीरोदात्तगुण समन्वित सद्वंश क्षत्रिय। धीरोदात्त अर्थात् अविकत्थन, क्षमावान्, अतिगंभीर, महासत्त्व, स्थिरमति, आत्मसंमानी, दृढव्रत व्यक्ति। एक वश में जन्मे अनेक अभिजात राजा भी नायक हो सकते हैं।

(३) रस—अंगी अर्थात् प्रधान रस शृंगार, वीर, शांत में से कोई हो, शेष सब रस सहायक—अंगरूप में रहें।

(४) छंद—एक सर्ग में एक ही छद हो तो अच्छा है, पर वह नानाछंदमय भी हो सकता है। सर्ग का अंतिम छंद शेष से भिन्न हो। इससे वैविध्य और चमत्कार आजाता है।

(५) वर्णन—वर्णनों की प्रचुरता रहनी चाहिए, इससे विविधता आजाती है और यथार्थ-बोध सुगम हो जाते हैं। संध्या, रात्रि, प्रभात, दोपहरी, सूर्य चंद्रोदय, मृगया, संयोग-वियोग, वन, नदी, पर्वत, सागर रणयात्रा, मंत्र—आदि सबका अभीष्ट वर्णन महाकाव्य की उपयोगिता बढ़ा देते हैं।

(६) नाम महाकाव्य का नाम कवि के नाम पर (माघ), वृत्त के आधार पर (कुमारसंभव, रावणवध), नायक के नाम पर अथवा और उपयुक्त आधार पर निर्धारित करना उचित है।

(७) उद्देश्य मानव जीवन का उद्देश्य है—चतुर्वर्गप्राप्ति अर्थात् यथाक्रम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन। इन्हीं चार में संपूर्ण मानव-जीवन का प्राप्य आ जाता है। यही सुखपूर्वक, सरसता से, सहज ढंग से सुकुमारमति जनों को भी सुलभ बना देता है। महाकाव्य के अध्ययन से मानव प्रेरणा ले, चरित्रवान् बने और अपनी तथा समाज की गौरव-वृद्धि करे—यही उसका उद्देश्य है—'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि'—यही काव्य का प्रयोजन है।

भारतीय परंपरा में यही महाकाव्य की उपयोगिता है और यही परिभाषा, जिसे हेमचन्द्रसूरि (काव्यानुशासन ८।६) के अनुसार संक्षेप में कहा

जा सकता है—'पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्त-सर्गाश्वास-सन्ध्यवस्कन्धबन्धं सासन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् ।

अग्निपुराण (३३७।२४-३४) में यही विस्तार से कहा गया है, जिसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि महाकाव्य में वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता रहती है, पर उसका जीवित रस ही है—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रजीनम्' । अग्निपुराण के अनुसार वह समानवृत्ति-निर्व्यूढ और कैशिकी-वृत्ति से कोमल होना चाहिए ।

पाश्चात्य साहित्य में महाकाव्य की धारणा पर 'एपिक' शब्द का प्रयोग किया जाता है । यूनानी मनीषी अरस्तू के अनुसार कथावस्तु की संरचना, चरित्रचित्रण, भाषा-छंद का सौष्ठव, और उदात्त विचार 'एपिक' के आवश्यक तत्त्व हैं । कथा छन्दोवद्ध, विस्तृत और चरित्रप्रधान होनी चाहिए और वह पूर्ण होनी चाहिए, जिसके आरम्भ, मध्य और अंत सुगठित हों । चरित्र-चित्रण यथार्थ के साथ-साथ उच्च और विस्मयपूर्ण घटनाओं से पूर्ण हो, जिससे शाश्वत और महान् सत्य का उदघाटन हो सके ।

सोलहवीं शती में इस सम्बन्ध में इटली में विचार हुआ और 'एपिक'—सम्बन्धी धारणाएँ बनी, उनके अनुसार 'विडा' (Vida) की दृष्टि में महा-काव्य कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है । 'होरेस' को मान्यता देते हुए 'डैनियेलो' ने महाकाव्य को राजाओं अथवा उच्चचरित्र-पुरुषों के जीवन की अनुकृति माना है 'ट्रिसिनो' ने वस्तु-संघटना पर विशेष बल दिया है । विशद रूप में विचार करते हुए 'जिराल्डी शिंटो' ने 'एपिक पोइट्री' को प्रख्यात चरितों का अनुकरण माना और उसके तीन भेद किये–(१) व्यक्ति के एक चरित का अनुकरण, (२) व्यक्ति के अनेक चरितों का अनुकरण और (३) अनेक व्यक्तिओं के अनेक चरितों का अनुकरण । 'कैसेलेवेत्रो' ने महाकाव्य के दो भेद किये—(१) चरित-महाकाव्य और (२) काल्पनिक-महाकाव्य । 'टारक्वैटो टैसो' ने महाकाव्य के संगठन को विशेष महत्त्वपूर्ण माना और नायक का उदात्त गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया । 'एबरक्राम्बी' और 'सी० एम० बावरा' ने महाकाव्य दो प्रकार के माने—(१) साहित्यिक, जिसमें सत्य का विवेचन और कलात्मक आनंद की सृष्टि पर बल होता है और (२) ऐतिहासिक, जिसमें शूर-वीरों के आदर्श की प्रधानता होती है ।

जर्मन मनीषी गेटे के अनुसार महाकाव्य नाटक के अनुरूप सुसंगठित और विकसित होता है। जहाँ तक युग-चित्रण का प्रश्न है, नाटक में जहाँ वर्तमान जीवन-जगत् का चित्रण प्रधान होता है, वहाँ महाकाव्य में अतीत का चित्रण। कल्पना और विचारों का स्वच्छंद प्रकाशन महाकाव्य में सम्भव है। अपने ग्रन्थ 'पोइटिक' में 'वैकरनेजल' ने काव्य के विकास पर दृष्टि डालते हुए महाकाव्य दो प्रकार का माना है—(१) वर्णनात्मक, (२) प्रगीतात्मक।

हीगेल के अनुसार एपिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण विधान है, उसकी कथावस्तु विस्तृत ही नहीं, घटनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हों। ऐतिहासिकता के समावेश से काव्य महान् बनता है। महाकाव्य का नायक सम्पूर्ण मानव, सार्वभौम गुणी, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए, जिसका चरित्र क्रमशः प्रकाशित होना चाहिए। दैवी घटनाओं का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया जाना उचित है। राष्ट्रीयता अथवा क्षेत्रीयता की अपेक्षा 'एपिक' में सार्वभौमिकता पर अधिक ध्यान रखना चाहिए। कुछ वीरगाथाओं को जोड़ देना ही महाकाव्य नहीं हैं, उनका सुसंगठित, क्रमिक विकास अपेक्षित होता है।

महाकाव्य की पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार उसमें (१) कथावस्तु, (२) चरित्रचित्रण, (३) वर्णन, (४) शैली और (५) उद्देश्य—इन पाँच अंगों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(१) कथानक ऐतिहासिक और व्यापक होना चाहिए, महत्त्वपूर्ण घटनाओं से सुसंगठित, यों कुछ काल्पनिक घटनाओं का समावेश भी हो सकता है। उसमें जीवन के विविध पक्षों को उजागर करने की क्षमता होनी चाहिए।

(२) महाकाव्य में अन्य पात्रों की अपेक्षा नायक के चरित्रचित्रण पर ध्यान अधिक आवश्यक है। भारतीय परम्परा के अनुसार वह देव अथवा उच्चवंशीय भले ही न हो, पर उच्च गुणों का समावेश उसमें अवश्य होना चाहिए। कुछ आचार्यों ने सम्राट्, महापुरुष और प्रतिष्ठित परिवार के व्यक्ति को ही महाकाव्य की नायकता में माना है। यह प्रायः सभी ने माना है कि वह प्रशंसनीय कार्य करने वाला हो।

(३) वर्णनप्रधान तो महाकाव्य को होना ही चाहिए, पर वर्णन रोचक और सजीव हों। इससे पृष्ठभूमि, घटनाएँ, चरित्र, उनके कार्य—सभी का उद्घाटन होता है।

(४) कुछ अचार्यों की मान्यता है कि 'एपिक' में 'हीरोइक मीटर' (वीररसात्मक छंद) का प्रयोग उचित है, परन्तु वीररस के अतिरिक्त अन्य-रसप्रधान काव्यों के लिए यह उपयुक्त नहीं होता, अतः अन्य मनीषी मानते हैं कि भावानुरूप छन्दोयोजना उचित है। शैली भी भावानुरूपिणी ही होनी उचित है।

(५) महाकाव्य के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न उद्देश्य बनाये हैं। प्राचीनतम आचार्यों ने नैतिकता और धार्मिकता पर बल दिया है, जबकि अरस्तू ने आनन्द और सत्य का उद्घाटन महाकाव्य का उद्देश्य माना है। जो भी हो, महाकाव्य का उद्देश्य होना महान् ही चाहिए, उसकी व्यापकता और प्रभावशीलता स्वतः लोकरंजन में समर्थ होगी!

भारतीय और पाश्चात्य—दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान देने से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कथावस्तु, चरित्र, शैली और उद्देश्य—इन चारों अंगों की दृष्टि से महाकाव्य को 'महान्' होना चाहिए। उसका महान् कलेवर ही उसे 'महाकाव्य' नहीं बनाता, प्रत्युत उसकी महत्ता के आधारभूत कथावस्तु आदि अंग ही हैं जिनकी उदात्तता उसे महाकाव्य बनाती है।

दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान रखते हुए 'नैषधीयचरित' की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्रायः ये सभी विशेषताएँ हैं।

(१) **इतिवृत्त अथवा कथावस्तु**—'नैषध' की कथा 'पुराणेतिहासादि-प्रसिद्ध वृत्तांत' अर्थात् ख्यात है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है कि 'महा-भारत' के वनपर्व का 'नलोपाख्यान' (५८–७८ अध्याय) इसका प्रमुख आधार है। जैसा कि 'प्रकाश'-कार ने लिखा है, 'नैषध' का आरम्भ पुण्यश्लोक नलरूप विशिष्ट के निर्देश से हुआ है—'अत्र पुण्यश्लोकनलरूपविशिष्टवस्तु-निर्देशेन निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तिः।' 'इतिवृत्त'—संघटन 'पञ्च-सन्धि-समन्वित' है। मुखसन्धि है—प्रथम, द्वितीय, तृतीय सर्ग में। इन सर्गों में 'नानार्थं रस-सम्भवा बीजसमुत्पत्ति' हो जाती है—दमयन्ती-नल का अनुरागरूप बीज समुत्पन्न हो जाता है। चतुर्थ सर्ग में प्रतिमुखसंधि है, जिसमें आरब्ध बीज का

उद्घाटन होकर उत्तरोत्तर विकास का तारतम्य दृष्टिगोचर हो जाता है। दमयन्ती के पिता भीम दमयन्ती-स्वयंवर का निश्चय करते हैं। पञ्चम से नवम सर्ग का कथानक 'गर्भसंधि' है। भरतमुनि के अनुसार जहाँ मुख तथा प्रतिमुख संधि की उत्पत्ति और उद्घाटन दशाओं से आविष्ट बीज का उद्भेद अथवा प्राप्ति या अप्राप्ति और पुनरन्वेषण होता है, वह गर्भसंधि है। (नाट्यशास्त्र १९।४१)। अभिनवगुप्त के अनुसार उद्भेद का अर्थ है 'फलजनाभिमुखता'। प्राप्ति नायकविषया होती है और अप्राप्ति प्रतिनायकविषया। प्राप्ति, अप्राप्ति और अन्वेषण—इन्हीं बार-बार होती रहती अवस्थाओं से युक्त गर्भसन्धि होती है। इन सर्गों में नल देवदूत हो दमयन्ती से मिलते हैं। और स्वयंवर में संमिलित होने का वचन देते हैं। इसमें प्राप्ति है नल-विषया, अप्राप्ति है देवादिप्रतिनायक विषया और अन्वेषण है वह नल का स्वयंवर में संमिलित होने का वचन, जिससे फल-प्राप्ति की आशा बंधती है। विमर्शसंधि का प्रसंग आता है चतुर्दश सर्ग के समाप्त होते-होते, जब देवगण प्रकट हो नल—दमयन्ती को आशीर्वाद और वर देते हैं। इसमें नल—दमयन्ती-अनुरागरूप बीज पुनः प्रकट होता है। इस संधि में विघ्नों द्वारा बीजार्थ बाधित होता है, विघ्न—हेतुओं का निबंधन होता है, फल-प्राप्ति में संदेह भी होता है, किन्तु नियत-फलाप्ति अवस्था व्याप्त रहती है। देवगण विघ्न हैं, पर उनका उपशमन हो, नल-दमयन्ती-परिणय की आशा नियत हो जाती है। पंचदश-षोडश सर्गों में 'निर्वहण' संधि है। वरमाला पड़ती है, विवाह हो जाता है और आगे के सर्गों में संजात नल-दमयन्ती-मिलन की पूर्ण भूमिका बन जाती है। पूर्वकथित चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का समानयन हो जाता है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने बताया है कि क्रम से उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद और गर्भ-निर्भेद-रूप बीज-विकारों से युक्त, नानाविध सुख-दुःखात्मक हास, शोक, क्रोधादि भावों से चमत्कारास्पद उत्कृष्टता प्राप्त मुखादि चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का एक अर्थराशि में समानयन—अर्थात् फलनिष्पत्ति में भोजन निर्वहण है, जो फलयोगावस्था से व्याप्त रहता है। (ना०शा० १९।४२ पर अभिनव भारती)। नायक नल का 'कार्य' है दमयन्ती प्राप्ति, वह यहाँ सम्पन्न हो जाता है।

यह कथानक आठ से अधिक अर्थात् बाइस सर्गों में व्याप्त है। कोई सर्ग ऐसा छोटा तो नहीं है, परन्तु एक-दो सर्ग दीर्घ अवश्य हैं, भले ही नातिदीर्घ हो; जैसे दो सौ बाईस श्लोकों का सप्तदश सर्ग। सर्गांत में भाविकथा का आभास प्रायः मिल जाया करता है।

(२) **पात्र**—'नैषधीयचरित्र' के प्रधानपात्र नल और दमयन्ती हैं। प्रतिनायक रूप में हैं इंद्र, यम, अग्नि, वरुण, जो आगे चलकर नल के सहायक हो जाते हैं। वस्तुतः 'नलोपाख्यान' का प्रतिनायक तो कलि है, जिसका उपयोग ही नैषधीयचरित में अवाञ्छित रहा है। केवल सत्रहवें सर्ग में उसका रोष दिखाया जासका, जिसमें चार्वाकदर्शन का दर्शन तो हो जाता है, शेष के लिए अवसर ही नहीं आया। शेष सामान्य पात्र हैं विदर्भनरेश भीम, स्वयंवर में एकत्र नरेश और देवी सरस्वती तथा दमयन्ती की सखियाँ। इन सबकी प्रसंगतः चर्चा आ गयी है। भीम एक हितचिन्तक पिता हैं, देवी सरस्वती वाग्देवी हैं, जिन्होंने स्वयंवर में दमयन्ती का दिशा-निर्देश किया। कला आदि सखियाँ राजनंदिनी की उपयुक्त परिचारिकाएँ हैं, राजमर्यादा को समझने वाली। एक विशिष्ट पात्र है पक्षी हंस, जो एक कुशल दूत का कार्य करता है और जिसकी कथा के माध्यम से करुणप्रसंग की मार्मिक अभिव्यक्ति हो गयी है। इस प्रकार 'नैषध' में मानव-मानवी, देव-देवी और मानवेतर प्राणी प्रकार के पात्र हैं, जो यद्यपि संख्या में थोड़े हैं, तथापि गुणों में प्रभूत हैं।

(क) नल—परम्परा के अनुसार नल सद्वंशोत्पन्न कुलीन क्षत्रिय है, जिसे पुराणादि में पुण्यश्लोक कहा गया है, जो प्रातः स्मरणीयों में प्रथम है—'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥' 'नैषधीयचरित्र' के आरम्भ के तीस श्लोकों में नल का वर्णन किया गया है, जिनमें उसके रूप, गुण, समृद्धि, बल, वैभव, प्रभाव, श्री, शोभा, कांति, उदारता, वीरता, दानशीलता आदि का विस्तार से उद्घाटन किया गया है। वे चतुर्दश विद्याओं के ज्ञाता हैं, कलामर्मज्ञ हैं, 'महोज्ज्वल' हैं और 'महसां राशि' हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वे 'धीरोदात्त' नायक हैं—आत्मप्रशंसा की श्लाघा न करने वाले, क्षमावान्, अति गम्भीर, निन्दा-प्रशंसा, हर्ष-शोकादि से अप्रभावित, स्थिरमति, स्वाभि-

मानी और वचनपालक। विश्वनाथ महापात्र के शब्दों में—'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानो धीरोपत्तो दृढव्रतः कथितः॥' (सा० द० ३।३२)।

उनके अनुराग की गम्भीरता, करुणार्द्रता, कला-विलास-प्रियता, दान-शीलता, दृढप्रतिज्ञता आदि के दर्शन इस काव्य में अनेक स्थलों पर हुए हैं। दमयन्ती के प्रति उनका अनुराग गूढ ही रहा, उन्होंने उसे प्रकट न होने देने के लिए एकांत उद्यान-सेवन उचित समझा। उन्होंने दमयन्ती की उसके पिता से याचना भी नहीं की। वचननिर्वाह के लिए, देवों को दान करने के लिए उन्होंने ऐसा दूतकार्य किया, जो स्वयम् उनके लिए, स्वार्थ-विघातक था। उनकी करुणाशीलता हंस-प्रसंग में व्यक्त हुई है। उनकी करुणाशीलता और उदार व्यवहार के कारण ही हंस ने उनका दूतत्व स्वीकारा। 'नैषधीयचरित' में क्रमशः उनके चरित का विकास दिखाया गया है, जो काव्य के नाम और 'चरितकाव्यत्व' को प्रमाणित करता है। नल संस्कृत परंपरा के आदर्श नायक हैं, जिनकी उदात्तता और महत्ता का चरित-पाठकों पर व्यापक सत्प्रभाव पड़ता है।

(ख) **दमयन्ती**—'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि के अनुसार सुख की मूल स्त्रियाँ 'नानाशीला' होती हैं, उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं। इनके प्रकृत्यनुसारी तीन भेद होते है—कुलीना (आभ्यंतरा), बाह्या (वेश्या) और कृतशौचा (बाह्याभ्यंतरा)। आभ्यंतर स्त्री-पात्रों में महादेवी देवियाँ और उनका समस्त परिचारिका-मंडल आता है। दमयन्ती की सखियाँ भी इसी मंडल की आभ्यंतर पात्रियाँ हैं। 'नैषधीयचरित' की प्रधान पात्री दमयन्ती भी कुलीना नायिका है, अपने कौमार्यकाल में वह 'अन्या' (अनूढा परकीया) है, विवाहोपरांत वह 'स्वा' (विवाहिता, स्वीया) हो जाती है। नायक-संबंध से वह आरम्भ में विरहोत्कंठिता है, विवाहोपरांत वह प्रिय की प्रिया है। 'नैषध' में दमयन्ती को रूप-गुण की दृष्टि से विश्व में सर्वोत्कृष्ट चित्रित किया गया है। उसका नाम ही 'दमयन्ती' इसलिए पड़ा है कि वह अपनी तनुश्री से त्रिलोकी की सुन्दरियों के सौंदर्याभिमान का दमन करनेवाली है :—

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम्।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ॥ (नै. २।१८)।

'नैषधीयचरित' (२।१८–४६) में उसके रूप-गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है और उस विवरण के पश्चात् हंस-वाणी में यह बताया गया है कि दमयन्ती नल के विना शोभा न पासकेगी और नल का यह रूप उसके विना निष्फल है। (२।४४–४५)। इस प्रकार नल-दमयन्ती को परस्परानुकूलता बनायी गयी। नल नरश्रेष्ठ है और दमयन्ती त्रैलोक्यसुन्दरी है–

'प्रियं' प्रियां च विजगज्जयश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्तिकावापि।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥
(नै० १।३८)

वह नल के सदृश है—'सदृशी तव शूर सा' (२।३९)। हंस दूत ने इसी सब का ध्यान रखते हुए कहा था–

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥ (३।११६)।

वह विदर्भकुमारी धन्य है, जिसने धैर्यधन निषधराज को भी आकृष्ट कर लिया। जैसे चाँदनी गंभीर सागर को भी उत्तरल कर देती है, वैसे ही दमयन्ती ने नल को उत्तरल कर दिया। इससे अधिक उसके विषय में और कहा ही क्या जा सकता है ?

अनेक स्थलों पर 'नैषध' में उसके विविध स्वरूपों का तनुश्री का तथा, अङ्गसुषमा का विशद चित्रण हुआ है, जिससे वह सर्वथा श्रेष्ठ आदर्श नायिका प्रमाणित होती है। आरम्भ में नलमुग्धा अनुरागिणी नायिका है। उसका नल के प्रति अनुराग इतना दृढ है कि विश्व में नल के आगे वह किसी को मान्यता नहीं देती, न किसी राजा–सम्राट् को, न इंद्रादि देवताओं को। उसका चित्त तो केवल नल की कामना करता है–'चेतो नलं कामयते मदीयम्।' स्वर्णपुरी लंका की भी उसे कामना नहीं है–'चेतो न लङ्कामयते मदीयम्।' यदि नल नहीं तो फिर 'अनल' (अग्नि) में जल मरना ही है—' चेतोऽनलं कामयते मदीयम्।' विवाह होने के बाद उसका अनुराग, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और वह नरराज नल को 'तृतीय-पुरुषार्थवारिधि' में तरानेवाली 'तरी' (नौका) बन जाती है। और फिर 'दिवानिश' आनन्द-उल्लास-विलास का सागर उमड़ पड़ता है। हेममयी भूमि से दमकते 'नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमसौधः भूधर' में

मदनाराधना चलने लगती है। 'नैषध' का अठ्ठारहवाँ सर्ग इसीके शृङ्गार से आप्लावित है।

ऋजुता, मधुरता, विनयशीलता आदि दमयन्ती के स्वाभाविक गुणों का विकास 'नैषध' में निरन्तर दीखता है। दमयन्ती विश्व-काव्य की अविस्मरणी नायिका है, जिसके बाह्याभ्यन्तर शृङ्गार से 'नैषधीय-चरित' मंडित है।

(३) **रस—अंगीरस**—'नैषधीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के अनुसार उनका काव्य शृंगारामृतवर्षी शीतकर चन्द्र है—'ऋङ्गारामृतशीतगो' (१।१३०)। रति-काम के परिणयोत्सव पर सहस्रधारों में बरसते देव से तुष्टि की कामना करते हुए इस काव्य की कवि ने आशीर्वादात्मक समाप्ति की है। ये रति-काम दमयन्ती-नल का और 'सहस्रधारकलशश्रीः' देव श्रीहर्ष के 'मधुवर्षि' नैषध-काव्य का भी यदि संकेत बनजाते हैं तो अनपेक्षित नहीं है। इसमें थोड़ी भी सदेह करने का अवकाश नहीं है कि श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' शृंगाररसप्रधान उत्कृष्ट महाकाव्य है। इस प्रकार उस शास्त्रीय परम्परा को भी आदर मिल जाता है, जिसके अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर, शांत में कोई एक प्रधान रस होना चाहिए—'शृङ्गारवीरशांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।' आदि से अन्त तक इस महाकाव्य में शृङ्गाररस अंगी रूप में परिलक्षित होता है।

शृंगार—शृंगार के विप्रलंभ और संयोग—दोनों पक्षों का 'नैषध' में सुन्दर चित्रण है। आरम्भ से नल-दमयन्ती-विवाह तक विप्रलभ है और तदनन्तर संयोग। जहाँ तक विप्रलंभ-शृंगार का पक्ष है, वह शास्त्रीय अधिक है। इसी परम्परा का पालन करके कवि ने यद्यपि वर्णन पहिले नल का किया है, पर रति-भाव का जागरण पहिले दमयन्ती में दिखाया गया है। मदन-प्रवेश पहिले विदर्भजा के मन में हुआ—'विदर्भजाया मदनस्तथा मनोनलावरुद्धं वयसैव वेशितः।' (नै० १।३२)। नौ श्लोकों (नै० १।३४–४२) में कवि ने दमयन्ती के पूर्वानुराग का वर्णन किया है। यह अनुराग नल के गुणों के श्रवण से उत्पन्न हुआ है, बहाने से उसने नल का चित्र-दर्शन पाया और नल के सपने देखने लगी। आगे चलकर यही अनुराग इतना दृढ हुआ कि सब

को ठुकरा कर दमयन्ती ने नल का वरण किया। स्वयंवर-सभा में बैठे पाँच-पाँच नलों को देख उसके मन में उपजे क्षणिक संदेह को उसके हठानुरागी मन ने ही क्षण में स्पष्ट कर दिया। क्या कारण है कि चार नलों को छोड़कर पाँचवें नल में ही उसकी रुचि विशेष है ? लगता है, जैसे यह पाँचवाँ नल दमयन्ती के मन को सुधा-स्नान करा रहा है—'इतरनलतुलाभागेषु शेषः, सुधाभिः स्नपति मम चेतो नैषधः कस्य हेतोः ? (नै० १३।५३)। और यथासमय दमयन्ती ने नल के गले में दूब के अंकुरों से सजी मधूकमाल-डाल दी—दूर्वाङ्कुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज।' (नै. १४।४५)। इस माल्यदान-प्रसंग में कवि ने दमयन्ती के लजाने का बड़ा स्वाभाविक किन्तु पांडित्यपूर्ण वर्णन किया है। चतुर्थ सर्ग में नल-विरह में व्याकुल दमयन्ती की व्यथा का वर्णन है। इस वर्णन में ताप, चिंता, चिंताका अनुभाव निःश्वास, अन्तर्ज्वर, अश्रुपात, शंका, विरह-पांडुरता, विवशता, विरह की दुःसहता आदि का शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप चित्रण हुआ है। मूर्च्छा-प्राप्त दमयन्ती का चंदनादि से जब उपचार हुआ, तब सखियों के कल-कल से आकृष्ट, कन्या के अस्वास्थ्य से चिन्तित भीमराज ने आकर देखा और घोषणा की—'दयितम-भिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः।' (नै० १४।११९)।

नल का दमयन्ती के प्रति आकर्षण बाद में बताया गया है, क्यों कि शास्त्रीय परम्परा है—'आदौ वाच्यः स्त्रियः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः।' 'नैषध' (१।४२–५४) में नल का यह अनुराग और तज्जनित व्यथा का वर्णन हुआ है। निश्चय ही इसमें पांडित्य-प्रदर्शन और शास्त्र-मर्यादा का परिपालन विशिष्ट है। धैर्य-भंग, ताप, निःश्वास, लज्जा आदि का वर्णन इसमें है। नल अन्त में अनंग-चिह्नों को छिपाने की इच्छा से निर्जन देश में चले गये। नल का आत्माभिमान और बड़प्पन इसमें कवि ने प्रकट किया है। उन्होंने स्मरतप्त होते हुए भी विदर्भराज से उनकी तनया की याचना नहीं की, माँगने से वे मरना भला समझते थे—'स्मरोष्मसोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत। त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥' (१।५०)। उनका सिद्धांत था—'माँगन से मरनो भलो मत कोइ माँगन जाय।' ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को नल-दमयन्ती के सामाजिक गौरव का अधिक ध्यान था, अतः बड़ी शालीनता के साथ उन्होंने नायक-नायिका के विप्रलम्भ शृंगार का

चित्रण किया है। फिर भी वियोगदशाओं का वर्णन अनेक स्थलों पर स्वाभाविक और सुन्दर है।

संयोग शृंगार का वर्णन तो विवाह के पश्चात् सात-आठ सर्गों में पूर्ण मनोयोग पूर्वक विस्तार से किया ही गया है, वास्तव में आनन्द और उल्लास से ही हर्ष उपजता है, प्रसन्नता आती है। पाठकों के मन में आनन्द-सुधासागर का उद्वेलन शृंगार के संयोग पक्ष से ही अधिक संभव है? संयोग शृङ्गार की भंगिमा से 'नैषधीय चारित' 'चारु' बन सका है।

'नैषध' का अष्टादश सर्ग नल-दमयन्ती के उल्लास-विलास से परिपूर्ण है। कवि ने निःसंकोच भाव से इस 'विलास-कला' का चित्रण किया है। 'दिवानिशभोग' करते दंपती की विविध चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का श्रीहर्ष ने हर्षोत्साह के साथ वर्णन—विस्तृत वर्णन किया है। कवि की दृष्टि यह 'तृतीय पुरुषार्थवारिधि' का संतरण पाप नहीं है, आवश्यकता है केवल निर्मल अन्तःकरण की, 'ज्ञानधौतमनसं' की। (१८।२)। सुमेरु को लजाने-वाले सौधभूधर में यह आमोदोल्लास रचने लगा। अगर और चंदन से वह सुवासित हो रहा था, चंदन की खिड़कियाँ थीं, जिनसे आता शीतसमीरण सुगन्धि हो जाता था। सौरभ महकाते तेल के सुगंधि दीपों की मन्द आभा सौधगर्भ को 'श्रीयुत बना रही थी। 'मणिकुट्टिम' का फर्श था और प्रसून-शय्या थी। बड़े विस्तार के साथ कवि ने सौध के अलंकरण का विवरण दिया है। वहाँ संभोगपर नल-दमयन्ती के जोड़े को देख कर रति-रतीश भी मोह गये। 'प्रकाशकार (१८२८ की टीका) लिखते हैं—'भौमीनलौ दृष्ट्वा रति-कामौ संजातसुरतेच्छौ जातौ।' उस सौध-भूधर में उन दोनों की जो कामकेलि दीप्त हुई—वह महाकवियों की भी बुद्धिगोचर न हुई होगी, स्वैरिणी नारियों की शिक्षा भी वैसी न हुई होगी। नै० १८।२९)। कामशास्त्र के अनुरोध से नारी का प्रथम संभोग-साध्वस, लज्जानुभावपूर्ण संभोग-क्रम रति-रुचि और संकोच, 'कुसुमशस्त्र-शास्त्रवित्' नल द्वारा दमयन्ती को संनिधि में लाना, कपोल-चुम्बन से पूर्व ललाट-चुम्बन, स्तनस्पर्श, रशनाकलापमोचनार्थ बढ़े प्रिय के हाथ का प्रतिरोध, धीरे-धीरे लज्जात्याग और प्रथम संभोग का अनुभव कविने बड़ी तटस्थ दृष्टि से किया है। आनन्द-उल्लास के त्रिविध अनुयोगों के साथ रात बिताते वे दोनों थक कर परस्पर ऊरु-जोड़े, अधर-मिलाये, रतिकेलि

के स्वप्न देखते आलिंगन-संपुट में परस्पर पीडित होते निद्रासुख का अनुभव करने लगे, उनके बाह्य वक्षःस्थल और आभ्यंतर अंतस् में कोई भेद न रह गया। (नै० १८।१५२–१८३)। अगले चार सर्गों में शृंगार की उज्ज्वलता का वर्णन है, जिसमें प्रभात है, संध्या है, चंद्रोदय है, तारों-भरी रात है। उपासना-पूजा भी है, प्रातर्विधान भी है। सभी उज्ज्वल पक्ष हैं। शृंगार की उज्ज्वलता के पूर्ण दर्शन इन उत्तर सर्गों में है।

अंगरस––शृंगारातिरिक्त जो रस अङ्ग रूप में आये हैं, उनमें करुण, वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स और भयानक हैं। केवल शांत नहीं है।

करुण––करुण रस 'नैषध' में हंस-प्रसंग में आया है। नल के द्वारा पकड़े गये हंस की उक्तियों में हृदयस्पर्शी करुणता व्यंजित हुई है। हंस-विलाप-प्रसंग यद्यपि छोटा है, किन्तु वह इतना प्रभावी और मनोवैज्ञानिक है कि उसे विश्वसाहित्य में सरलता से स्थान दिया जा सकता है। विलाप करते हंस ने जो कहा, उसने नल का हृदय करुणाविगलित कर दिया और निषधपति की दीनदयालुता उभर आयी और हंस मुक्त हो गया।

हंस ने पकड़े जाने पर पहिले तो राजा के इस कार्य का अनौचित्य सिद्ध किया और उसमें करुणा जगायी। यह करुणभाव 'नैषध' (१।१३५–१४२) के आठ श्लोकों में व्यक्त हुआ है। हंस ने अपनी वृद्धा माँ, नवप्रसूता पत्नी की निराश्रयता की दुहाई दी। किस प्रकार माँ यह दारुण कष्ट सह सकेगी ? कैसे पत्नी से वह क्षण व्यतीत किया जायेगा, जब वह यह सुनेगी ? निश्चय ही वह प्राण त्याग देगी और माँ-बाप के न रहने पर अनाथ छोटे बच्चे मर ही जायेंगे। हंस का यह विलाप आज भी सरस पाठकों की आँखों में आँसू ला देता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रसंग को करुणरस की अविस्मरणीय रचना माना है। वे जब भी इसे पढ़ते थे, उनका अश्रुपात होने लगता था।

वीर––करुण की भाँति वीर रस के प्रसंग कई स्थलों पर होते हुए भी थोड़े ही हैं, किन्तु उतने प्रभावी नहीं है। उनमें श्रीहर्ष का पांडित्य तो लक्षित होता है, शास्त्रीयता है, पर करुण-प्रसंग जैसी सहृदयता नहीं है।

यद्यपि विश्वनाथ ने करुण, वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक की गणना शृंगार रस के विरोधी रसों में की है–'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' (सा० द० ३।२५४), तथापि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बाध्यबाधकभाव से केवल शृंगार-बीभत्स में विरोध माना है (ध्वन्यालोक, कारिका २४ का पूर्वपक्ष)। उस पर भी वे ऐसा नहीं मानते कि 'नवरसरुचिर' महाकाव्य में प्रसंगतः विरोधी रस का वर्णन ही न किया जाय, वे केवल विरोधी रस के प्रत्यधिक परिपोष के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार परिपोष अङ्गी रस का ही होना चाहिए, विरोधी या अविरोधी अंग रसों का नहीं—'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे। परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता।' (तदेव)। वास्तव में रसभंग अनौचित्य से होता है, औचित्य-निबंधन तो रस की परमोपनिषद् है—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥' इस दृष्टि से 'नैषध' में किसी अन्य अंग रस का परिपोष नहीं हुआ है, जो रस आये हैं, प्रसङ्गतः, औचित्य के साथ। और फिर विवक्षित अतएव अंगी रस जब लब्धप्रतिष्ठ हो जाता है, लब्धपरिपोष हो जाता है तो विरोधी अंगरसों के कथन में दोष नहीं होता—'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिताम्। बाध्यानामङ्गभावं वा प्रापाना-युक्तिरच्छला॥' (ध्वन्यालोक ३।२०)।

वीर रस का वर्णन नल की युद्धवीरता-चित्रण-प्रसंग में है, वे शताधिक-शत्रुजयी हैं, जलते हुए शत्रुपुरों की अग्नि के समान उनके प्रताप से भूमंडल प्रकाशित था, उनकी तलवार उनके चाँदनी जैसे यश का विस्तार करती थी। उनके ओज और यश के संमुख सूर्य-चन्द्र भी अगणनीय थे। आदि-आदि (नै० १।९–१४)।

इसके अतिरिक्त स्वयंवर-प्रसंग में (सर्ग ११–१३) राजाओं के परिचय में उनकी वीरता का बखान किया गया है। वस्तुतः इसमें शास्त्रीयता का परिपालन और कल्पना की उड़ान ही अधिक है, स्वाभाविक वीर-भाव कम।

दयावीरता के भी कुछ प्रसंग हैं, उदाहरणार्थ नल की विलाप करते हंस पर दीनदयालुता। (१।१४३)।

दानवीरता के उदाहरण भी हैं। नल ने इतना दिया कि दरिद्रता भी

दरिद्र हो गयी। (१।१५)। नल को यही असंतोष था कि वे सुमेरु के टुकड़े करके याचकों को क्यों न दे पाये, दान जल के व्यय से सागर को भी मरु क्यों न बना डाला ? (१।१६)। राजा नल से अभीष्ट-याचना सभी करते थे (३।१५)। नल से देवों ने भी याचना की। (५।७७)। और उन्हें 'अर्थी' पाकर नल का रोम-रोम हृषित हो उठा (५।७९)। वे माँगे जाने पर प्राण तक दे सकते थे। (५।८१)। उनका सिद्धांत था कि 'अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम्। (५।८६)। जो जन्म याचकों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए नहीं हुआ, धरती का बोझा वही है, न ये वृक्ष हैं, न पर्वत, न समुद्र। (५।८८)।

हास्य—हास्य के भी यत्किंचित् प्रसंग 'नैषध' में हैं। षोडश सर्ग के भोज-प्रसंग में स्वाभाविक और अवसरोचित हास्य-प्रसंग हैं। बारातियों और परोसनेवालियों में अच्छा गूढ हास-परिहास चला है। दमयन्ती के भाई पदम ने भोजन के बाद मुखशुद्धि के लिए जो 'पत्रालि' (पान का बीड़ा) दी, उसका रूप बिच्छू जैसा बना दिया गया था, सो भय के मारे बरातियों ने उसे फेंक दिया और सबके हास्य के पात्र बने। (१६।१०९)। दही ऐसा था कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने भी बनाते समय इधर-उधर से चुराकर खा लिया, इसीलिए उसमें छिद्र हो गये। (१६।९३)।

स्वयंवर में मगधराज की कीर्त्ति-अकीर्त्ति का दमयन्ती की सखी द्वारा ऐसा श्लिष्ट वर्णन किया गया है कि सभी उपस्थित सभाजन हँस पड़े। (१२।१०६)। सप्तदश सर्ग में कलि की उक्ति में व्यंग्य हास्य का कारण बन आया है। बोधिसत्त्व, अग्निहोत्र, इन्द्र, पाप-पुण्य, व्यास, गौतम आदि का व्यंगमय उपहास किया गया है जो श्रद्धालुओं के रोष का कारण भी बन जाता है—स्वयम् इन्द्र भी उन दुर्वर्णों को सुनकर क्रुद्ध हो उठे—'इत्थमाकर्ण्य दुर्वर्णं शक्रः सक्रोधतां दधे।' (१७।८३)।

इसमें संदेह नहीं कि 'नैषध' की हास्य-व्यंग्य-योजना संस्कृत-साहित्य में अनूठी है।

अद्भुत—अद्भुत-प्रसंग केवल स्वर्ण-हंस के कारण उत्पन्न हुआ है।

इसी स्वर्णहंस को देखकर विरही नल के भी हृदय में कुतूहल उत्पन्न हुआ। सुवर्ण-पंखी हंस कहाँ दीखता है? (१।११९, १२९)।

रौद्र—सप्तदश सर्ग में क्रुद्ध कलि के क्रोधपूर्ण वचन रौद्रभाव की व्यंजना करते ही हैं, उसके वे वचन इन्द्र में भी रौद्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। (यद्यपि 'सक्रोधतां दधे' में 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष आ गया है)। वज्रधर का हाथ फड़क उठा, वे चीख उठे—कौन है यह जो उनके रहते धर्म-मर्मों का कृन्तन कर रहा है–'अवोचदुच्चैः कस्कोऽयं धर्ममर्माणि कन्तति। लोकत्रयीं त्रयीनेत्रां वज्रवीर्य-स्फुरत्करे। क इत्थं भाषते पाकशासने मयि शासति?' (१७।८३–८४)।

बीभत्स–बीभत्स तो बाध्यता के साथ शृंगार का विरोधी रस है, अतः बीभत्स का नाममात्र का वर्णन 'नैषध' में है। विरही नल के मन में रमणीय वस्तुओं के प्रति भी जुगुप्सा उत्पन्न हो गयी। खिला लाल पलाश उसे 'पलाश' (मांसभक्षी) लगा, झूमती लता उसे डरावनी प्रतीत हुई, चम्पे की कलियाँ पतंगों को जलाती पापिनी-सी लगीं। (१।८४-८६)। वस्तुतः यह सब परम्परागत विरह-वर्णन है।

भयानक—इसी प्रकार 'भय' के प्रसंग भी नहीं से हैं। झूमती लता—से भय तो है ही, स्वयंवर में नागराज वासुकि को देख दमयन्ती भी भय से भर जाती है। 'आशीविष', स्फुरत्फण' नागराज को देख कर कौन कामिनी भीति से न भर जाती? (१०।२१)।

'प्रकाश'-टीकाकार के द्वारा स्वीकृत 'नैषध' में काव्य को 'स्वादूत्पाद-भृति' (टीकाकार के अनुसार सहृदयहृदयाह्लादकारक होने से अत्यन्त मधुर-नवार्थसहित) कहा गया है और सर्गविशेष को 'रसाम्भोनिधिः' (१३। ५६)। श्रीहर्ष की यह उक्ति असंदिग्ध है; 'नैषध' विभिन्न रसधाराओं का सागर ही है।

(४) **छन्द**—शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार महाकाव्य के नातिदीर्घ सर्गों में एक ही 'वृत्त' (छन्द) के पद्य होना अच्छा माना जाता है; हाँ सर्ग के अवसान में अन्य छन्द का प्रयोग हो। इस दृष्टि से 'नैषधीयचरित' में मर्यादा का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। प्रथम सर्ग में परिचयात्मक अंतिमश्लोक को छोड़कर एकसौ चवालीस श्लोक हैं। परिचयात्मक श्लोक सभी सर्गों के अन्त

में शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।) इसमें सभी श्लोक वंशस्थ छन्द में हैं; अन्तिम श्लोक 'अन्यवृत्तक' अर्थात् वसन्ततिलका छन्द में है। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में आरम्भ के १०१ श्लोक 'वैतालीय' अथवा 'वियोगिनी' छन्द में हैं, श्लोक-संख्या १०२ और १०४ शार्दूलविक्रीडित हैं, १०३ पुष्पिताग्रा है, १०५ स्रग्धरा है, १०६, ७, ८, और १०९ मालिनी छन्द में हैं। तृतीय सर्ग में आरम्भिक १२४ श्लोक उपजाति हैं, १२५, १२९, १३१ वसन्ततिलका हैं। शेष श्लोकों में १२६, २७, २८, ३० शार्दूलविक्रीडित हैं। १३२ वाँ स्रग्धरा है, १३३, १३४, १३५, वें श्लोक मालिनी छन्द में हैं। चतुर्थ सर्ग में प्रारम्भ के ११५ श्लोक द्रुतविलम्बित हैं, ११६ वाँ और १२२ वाँ (अन्तिम) शार्दूलविक्रीडित हैं, ११७ वाँ वसन्ततिलका है और श्लोक संख्या ११८, १९, २०, १२१ औपच्छन्दसिक अथवा बालभारिणी वृत्त में हैं। पंचम सर्ग में आरम्भिक १३३ श्लोक स्वागता वृत्त में हैं, १३४ वाँ द्रुतविलंबित है, शेष अन्तिम तीन शार्दूलविक्रीडित हैं। छठे सर्ग में उपजाति छन्द का प्रयोग है, अन्तिम ११२ वाँ श्लोक मालिनी छन्द है। सप्तम सर्ग के कुछ श्लोक उपेंद्रवज्रा हैं, कुछ इन्द्रवज्रा अर्थात् उपजाति अन्तिम श्लोक में हरिणी छन्द का प्रयोग किया गया है। आठवें सर्ग की भी यही स्थिति है प्रारम्भिक १०४ श्लोक उपजाति हैं, १०५, १०६ स्रग्धरा हैं, १०७ वाँ पुष्पिताग्रा है और अन्तिम १०८ वाँ वसन्ततिलका। नवम सर्ग के प्रारम्भिक १५५ श्लोक वंशस्थ हैं, १५६ वाँ मन्दाक्रान्ता है, १५७ वाँ तोटक, १५८ वाँ शार्दूलविक्रीडित और अन्तिम १५९ वाँ मालिनी। दशम सर्ग में पुनः उपजातिछन्द का प्रयोग है, केवल अन्तिम 'दयामियधिरध्यम्'—इत्यादि श्लोक मालिनी छन्द में है। एकादश सर्ग वसंततिलका वृत्त में है, केवल अन्तिम १२९ वाँ श्लोक स्रग्धरा में है। द्वादश सर्ग में प्रथम ९० श्लोक वंशस्थ हैं, ९१ ९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९ शार्दूलविक्रीडित हैं, और ९४, ९५, १००, १०१, १०२ स्रग्धरा हैं, १०२, १०४, १०६, १११ पुनः शार्दूलविक्रीडित हैं, १०५, १०७, १०८, १०९ पुनः वंशस्थ है, ११० वसन्ततिलका है और अन्तिम ११२ वाँ पुनः स्रग्धरा है। त्रयोदश सर्ग के आरम्भ से 'यः स्यादमीषु' इत्यादि श्लोक पर्यन्त वसन्ततिलका का प्रयोग है, अन्तिम दो श्लोकों में मालिनी है। चतुर्दश सर्ग के

प्रारम्भिक (८४ अथवा ८७) 'अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्'-इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, शेष श्लोकों में चार शिखरिणी हैं, दो शार्दूलविक्रीडित है, दो स्रग्धरा हैं, तीन वसन्ततिलका हैं, एक रथोद्धता है और एक मालिनी है। पंचदश में आरम्भिक एक्यासी श्लोक वंशस्थ हैं, बयासीवाँ श्लोक स्रग्धरा है तथा तिरासीवाँ शिखरिणी। शेष नौ शार्दूलविक्रीडित हैं। षोडश में भी आरम्भिक श्लोक 'पुरीनिरीक्षान्यमना'–इत्यादि तक वंशस्थ हैं, पुनः दो पुष्पिताग्रा हैं, शेष पाँच मालिनी हैं। सप्तदश सर्ग अनुष्टुप्-छन्दः–प्रधान है, केवल अन्तिम दो श्लोकों में पहिला शिखरिणी और दूसरा शार्दूलविक्रीडित है। इसी प्रकार अष्टादश सर्ग रथोद्धता-प्रधान है, केवल अन्तिम श्लोक स्रग्धरा है। उन्नीसवें सर्ग के आरम्भिक पचपन श्लोक हरिणी छन्द में हैं, चार मन्दाक्रांता हैं, पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं, एक श्लोक 'जलजभिदुरी-भावम्' इत्यादि भी हरिणी छन्द में है, इसे प्रक्षिप्त भी माना जाता है। एक पृथ्वी छन्द है, एक मालिनी है और एक स्रग्धरा है। विंश सर्ग भी अनुष्टुप्–प्रधान है, अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित है, उससे पूर्व के तीन पुष्पिताग्रा हैं। इक्कीसवाँ सर्ग रथोद्धता–प्रधान है। 'विप्रपाणिषु' इत्यादि तक के श्लोक रथोद्धता छन्द में हैं। इसके अनन्तर इक्कीस श्लोक वसन्ततिलका हैं, शेष में सात पुष्पिताग्रा हैं, तीन स्रग्धरा हैं, ग्यारह शार्दूल-विक्रीडित हैं, एक मालिनी है। द्वाविंश (अन्तिम) सर्ग उपजाति-प्रधान है। 'अन्तः स लक्ष्मी क्रियते' इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, पुनः एक रथोद्धता है, तदनन्तर तीन वसन्ततिलका हैं। शेष में आठ शार्दूलविक्रीडित हैं, एक स्रग्धरा है और एक शिखरिणी और एक पुष्पिताग्रा है। प्रत्येक चरण में सर्वलघु सोलह-सोलह वर्णों का भी एक छन्द है, टीकाकारों ने इसे 'सर्वलघु' संज्ञा ही दी है। इसे 'अचलधृति' नाम भी दिया जाता है। अन्त के कवि-प्रशस्ति संबंधी चार श्लोकों में एक शिखरिणी है, दो शार्दूलविक्रीडित और एक हरिणी।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने प्रत्येक सर्ग में एक छन्द को प्रधानता दी है, अन्तिम छन्द भिन्नवृत्तक अवश्य है। किन्तु यह अन्यवृत्तमता केवल अन्तिम श्लोक तक ही सीमित नहीं रह गयी है, कवि ने अन्त के अनेक श्लोकों में

भिन्न वृत्तों का प्रयोग कर लिया है। अन्तिम श्लोक ही जिनमें अन्यवृत्तक हैं, वे सर्ग हैं—प्रथम, षष्ठ, सप्तम, दशम, एकादश और अष्टादश।

जहाँ तक श्रीहर्ष के छन्दोज्ञान अथवा छन्दःप्रियता का प्रश्न है, कवि छन्दःशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता है, उसने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। सब मिलकर अट्ठारह,—उन्नीस प्रकार के छन्दः 'नैषध' में हैं। उपजाति का प्रयोग कवि ने सबसे अधिक किया है सात सर्गों में। चार सर्गों में प्रधान छन्द वंशस्थ हैं। दो-दो सर्ग वसंततिलका, स्वागता रथद्धता और अनुष्टुप्–प्रधान हैं और एक-एक में द्रुतविलम्बित, वैतालीय और हरिणी का प्रयोग है। इसी दृष्टि से कवि की छन्दःप्रियता का तारतम्य प्रतीत हो जाता है। मंदाक्रांता छन्द में पाँच ही श्लोक हैं, शताधिक शार्दूलविक्रीडित हैं। स्थान-स्थान पर स्रग्धरा, शिखरिणी, पुष्पिताग्रा, मालिनी, वियोगिनी का भी प्रयोग है, अचलधृति, पृथ्वी, तोटक भी हैं। गणनाकारों ने इनकी गणना भी की है। श्री नलिनीनाथदास गुप्त ने श्रीहर्ष के छन्दोनैपुण्य की प्रशंसा की है। उनकी मान्यता है कि 'नैषधीयचरित' में लगभग बीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें अधिकांश गीतात्मक लघुवृत्त हैं, बड़े छन्द मंदक्रांता, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है। परन्तु वाक्यावली और शब्दावली में श्रीहर्ष की रुचि कठिनता और श्लिष्टता की ओर है, जिसमें कहीं–कहीं लयात्मकता और गति में बाधा पहुँची है।

(५) **वर्णन**–श्रीहर्ष कल्पना के धनी कवि हैं। किसी विषय में कितना विचार किया जा सकता है, 'नैषधीयचरित' में इसकी इयत्ता नहीं प्रतीत होती। चाहे जो विषय हो, श्रीहर्ष उसका विस्तृत विवरण देने में समर्थ हैं। 'नैषध' में मनुष्य, पशु, पक्षी, नगर, उपवन, प्रभात, रात्रि, स्वयंवर आदि के विस्तृत और कवित्व-पूर्ण वर्णन हैं।

मानव वर्णन में नल और दमयन्ती के विस्तृत वर्णन हैं। प्रथमसर्ग के इकतीस श्लोकों में नल का और द्वितीय सर्ग के छब्बीस श्लोकों में दमयन्ती का वर्णन है। इनकी वियोग-कथा के भी विस्तृत काव्यमय वर्णन हैं; तृतीय सर्ग (१००–१२८) में नल की वियोगदशा का और चतुर्थ (२–१०१) में दमयन्ती की। अगले आठ श्लोकों (१०२–१०९) में प्रश्नोत्तर रूप में दमयन्ती और सखियों के माध्यम से यह विवरण प्रस्तुत हुआ है।

पशु वर्णन में अश्व-वर्णन है प्रथमसर्ग (५८–६४) में और हंस तथा उसकी उड़ान का तो क्रमशः प्रथमसर्ग (११८, १२१, १२२) और द्वितीय सर्ग (६५–७२) में अत्यन्त स्वाभाविक विवरण उपस्थित किया गया है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार उपवन (१।७६–१०६) का और उसी में स्थित सरोवर (१०७–११७) का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग (१–६४) में प्रभात और सूर्योदय के विस्तृत विवरण हैं; इक्कीसवें (१२५–१३४) में संध्या का। बाईसवें सर्ग में क्रमशः संध्या, रात्रि और चंद्रोदय के विशद वर्णन श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं। कल्पना और उत्प्रेक्षा की ऊँची उड़ान इन वर्णनों में प्राप्त होती है।

नगर और नगर-जीवन की समृद्धि तथा क्रिया-कलाप तो कवि ने बड़ी स्वाभाविक दृष्टि से चित्रित किये हैं। द्वितीय सर्ग (७३–१०६) के कुंडिन-पुरी तथा सप्तदश (१६१–२०१) में नल की राजधानी तथा राजोद्यान (२०६–२०८) का वर्णन किया गया है। राज्यसभा और स्वयंवर का इतना विशद और विस्तृत वर्णन कदाचित् ही कहीं प्राप्त हो, पूरे पाँच सर्ग पाँच सौ के लगभग श्लोक (१०–१४ सर्ग) इस विवरण से पूर्ण हैं। भोज, भोज्य पदार्थ, वरयात्रा आदि के वर्णन तो बड़े रमणीय और मनोरंजक हैं। इन सभी वर्णनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए भी कथानक के भाग ही प्रतीत होते हैं। ये वर्णन ऊपर से जोड़े गये, अलग-अलग से नहीं लगते।

युद्ध, समुद्र आदि के वर्णन प्रायः नहीं हैं किन्तु कथा में इनका अवसर भी तो नहीं है। शृङ्गार-वर्णन कवि को विशेष प्रिय है। अष्टादश सर्ग तथा अन्य नल दमयन्ती-विलास के प्रसंग शृङ्गार-चेष्टाओं के प्रचुर विवरणों से परिपूर्ण हैं, कहीं-कहीं तो इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि आधुनिक सामान्य सामाजिक दृष्टि से वे ग्राह्य भी कठिनता से हैं। परन्तु नवदम्पती के जो रति-चित्र इसमें हैं, वे कवि के कामशास्त्र की अभिज्ञता के सटीक उदाहरण हैं।

वस्तुतः कल्पना का अपार विस्तार और उसके अनुरूप नवीन उद्भावनाएँ इन वर्णनों में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। पर उनमें सरसता भी है और

हृदय को छूने की क्षमता भी। 'श्रीहर्ष' और 'नैषधीयचरित' के संमान्य अध्येता और व्याख्याता डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल का यह निष्कर्ष इस विषय में उचित ही है—'नैषध में जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होंने (श्रीहर्ष ने) किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रमी हुई है।.....प्रबल कल्पनाशक्ति और बहुज्ञता के साथ-साथ उन उक्तियों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता ...है। वे एक अत्यंत सरस हृदय से निकली समझ पड़ती हैं।'

(६) **शैली**—'नैषधीयचरित' में यद्यपि कहा गया है कि 'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैः' (३।११६) और इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने इस काव्य को वैदर्भि-रीति-प्रधान माना भी है और सामान्यतः यह सत्य भी है, तथापि अल्पसमासयुता पाञ्चाली और ओजःप्रधाना गौडी पदरचना से 'नैषध' रहित नहीं है। (द्रष्टव्य १।२) इसमें 'समस्तपञ्चषट्पदबन्ध' भी हैं और आडम्बर-पूर्ण समासबहुल भी (द्रष्टव्य १९।१५३ में दो चरणों का समस्तपद) किंतु प्रचुरता माधुर्यव्यंजक वर्णों की ही है और रचना-लालित्य भी; ओज, प्रसाद, माधुर्य—तीनों ही गुण 'नैषध' के शृंगार हैं। यथोचित, यथावसर तीनों रीतियों और तीनों गुणों से युक्त पदरचना है। पदलालित्य तो 'नैषध' का उल्लेख्य ही है—'नैषधे पदलालित्यम्।' समासबहुल पद हों, या अल्पसमास—लालित्य उनमें सर्वत्र है। अनुप्रास की छटा, श्लेषमय पदयोजना। पदो की ऐसी समायोजना कि एक-एक वाक्य अनेक अर्थ देने लगें। स्वयंवर का 'पंचनलीय' प्रसंग तो इस श्लिष्टपदयोजना के लिए विख्यात ही है, अन्य भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे कवि का पद-योजना-सौष्ठव प्रकट होता है। दमयन्ती ने कहा—'चेतो नलङ्कामयते मदीयम्'। (३।६७)। इस एक वाक्य से तीन भाव प्रकट हुए—(१) मेरा चित्त लंका की कामना नहीं करता—'चेतो न लङ्कामयते।' (२) चित्त नल की कामना करता है—'चेतो नलं कामयते'। (३) और यदि यह न हो सके तो आग में जलने को जी चाहता है—'चेतोऽनलङ्कामयते'। लज्जाशीलाकुमारी की लाज भी रह गयी और हृदयगत भाव भी (समझने वाले के लिए) स्पष्ट हो गये। 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ श्लेष भले ही हो, पर यह सामान्य श्लेष योजना ही नहीं है, कवि के 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः' का उदाहरण है।

'नैषधीयचरित' के आलोचकों ने श्रीहर्ष की शैली की आठ विशेषताएँ गिनायी हैं। यहाँ उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा—(१) अनुप्रास की पर्याप्त योजना। (२) श्लिष्ट पदरचना (३) वक्रोक्तिपूर्ण वाक्य। (४) कल्पनामयी उत्प्रेक्षाएँ (५) विभिन्न प्रकारकी उपमाएँ। (६) व्यंग्यपूर्ण संभाषण। (७) नाटकीय संवाद–योजना और (८) कर्मणि लुङ् और भावे प्रयोग। अनुप्रास तो प्रथम श्लोक से प्रकट हो जाता है--'क्षिति रक्षिणः' 'बुधाः सुधाम्' 'महसां महोज्ज्वलः' आदि। श्लिष्ट-पदयोजना की पराकाष्ठा तो 'पंचनलीय' प्रसंग है ही। वक्रोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं, चतुर्थ सर्ग (१०२–१०९) में, जहाँ उत्तरप्रत्युत्तर रूप में सखी-दमयन्ती-संवाद है। उत्प्रेक्षाओं की तो इतनी प्रचुरता है कि पद-पद पर उनका चमत्कार दीख जाता है। (द्रष्टव्य १।१२३, २।३१, २।३४, २।३५ आदि)। उपमाएँ अनेक प्रकार की हैं—मालोपमा, गूढोपमा, श्लिष्टोपमा। (श्रेष्ठ उपमाओं के लिए द्रष्टव्य १।४१, १।१४, १।१२७ आदि)। व्यंग्यपूर्ण संभाषण के श्रेष्ठ उदाहरण बीसवें सर्ग में हैं। (२०।६५, ६७, ९०)। इनमें लोक-व्यवहार-ज्ञान और संभाषण-कुशलता का द्योतन हुआ है। नाटकीय-संवाद-योजना चतुर्थ सर्ग (१०२–१०१) के प्रश्नोत्तर हैं। नाटकीयता भी यत्र-तत्र है, भोज-प्रसंग में, केलि-मन्दिर-प्रसंग में। कर्मणि लुङ् और भावे प्रयोग के लिए उदाहरणीय हैं ३।१३१, ४।१७–४३ तथा ५।५०, ५७ आदि।

अलंकार–अलंकार-योजना की दृष्टि से श्रीहर्ष की अलंकार-प्रियता प्रसिद्ध ही है। श्लेष, उत्प्रेक्षा, व्यक्तिरेक, प्रतीप, वक्रोक्ति आदि का प्रचुर प्रयोग 'नैषध' में मिलता है। इसी अलंकार-प्रचुरता के कारण प्रायः संकर या संसृष्टि की संभावना आ जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अलंकार-योजना कवि का स्वभाव है, वह श्रमसाध्य नहीं है। चित्रालंकार कवि को प्रिय नहीं है। कल्पना के धनी कवि के सब से प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तो अनायास—मानो कवि के अनजाने ही—आ जाते हैं। हाँ, श्लिष्ट प्रयोगों में कवि के पांडित्य, श्रम, शब्दकोष-ज्ञान, व्युत्पत्ति का विशिष्ट परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी उपमान-योजना उपमालंकार के अतिरिक्त रूपक, प्रतीप,

व्यतिरेक आदि के माध्यम से भी हुई है। इसके अतिरिक्त विरोधाभास, विशेषोक्ति, जाति आदि का भी प्रयोग किया गया है। रूपक-उत्प्रेक्षा का तो अनेक स्थानों पर योग हुआ है। (द्रष्टव्य १।५८, १।८४ आदि)। अनेक अलंकारों के मेल के तो अनेक उदाहरण हैं। द्रष्टव्य १।१७ (उपमा-श्लेष सहोक्ति), १।२० (छेकानुप्रास-परिकर), १।२१ (अपह्नुति उत्प्रेक्षा), २।१०८ (उपमा रूपक-जाति) आदि-आदि। अर्थान्तरन्यास के भी अत्यंत भाव-मय प्रयोग 'नैषध' में शताधिक हैं। उदाहरणार्थ—१।५०, ५४, १०२, १३१, २।४८ आदि। स्वभावोक्ति (जाति) के अच्छे मनोरम उदारहाण हंस-प्रसंग में हैं। (द्रष्टव्य २।२, २।३० आदि)। समासोक्ति के उदाहरण के लिए तो 'नैषध' का 'नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता'—इत्यादि (१।८५) काव्यशास्त्रियों में प्रसिद्ध है।

'नैषध' अलंकारों का सागर है। उक्त अलंकारों के अतिरिक्त उनकी वक्रोक्तियाँ और व्यंग्योक्तियाँ बड़ी प्रभाव-शालिनी हैं। पादांत यमक का तो अत्यन्त स्मरणीय और दर्शनीय उदाहरण है—यथासीत् कानने तत्र विनिद्र-कलिका लता। तथा नलच्छलासक्तिविनिद्रकलिका लता ॥ (१७।२१८),

श्रीहर्ष की शैली विद्वत्तापूर्ण है। कहा जाता है—'नैषधं विद्वदौषधम्।' 'नैषध' में यह विद्वत्ता प्रचुर मात्रा में प्रमाणित है। 'साहित्यविद्याधरी'—कर्त्ता ने श्रीहर्ष को विविध शास्त्रों का वेत्ता सुधी कोविद कहा है—

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः ॥

'नैषधपरिशीलन' के विद्वान् रचयिता डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल ने अपनी इसी प्रकार की मान्यता पुष्टि में डॉ० सुशीलकुमार दे के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' से जो उद्धरण दिया है, वह भी 'नैषध'कार की विद्वत्ता और पांडित्य का समर्थन करता है—'नैषधचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परंपरागत ज्ञान का भांडार है।'

इसी कारण 'नैषध' में दुरूहता भी आ गयी है। 'नैषध' का ठीक-ठीक आनन्द वही ले सकता है, जिसे अलंकारशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा (षड्दर्शन) और चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक सिद्धान्तों से अच्छा परिचय हो। इसी कारण अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों को 'नैषधीयचरित' में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष दुर्बल प्रतीत होता है, यद्यपि नैषधकार का आत्मकथन है कि ये गाँठें उसमें इसलिए डाल दी हैं कि विद्वम्मन्य खलजन इस काव्य से खिलवाड़ न करें, यह सज्जन विद्वानों को ही आनन्द दे सके --

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञमन्यमना हठेन पठितो मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

व्याकरण—व्याकरणानुसार शब्द-प्रयोग जानना तो सामान्य स्थिति है; श्रीहर्ष ने व्याकरण के सूत्रों को आधार बना व्यंग्य की सृष्टि की है। पाणिनि के सूत्र 'अपवर्गे तृतीया' (अष्टा० २।३।६) को लेकर कलि कहता है कि मोक्ष का तो स्त्री-पुरुष के लिए औचित्य ही नहीं है, वह अपवर्ग इनसे भिन्न (नपुंसक) के निमित्त होता है। (१७।७०) मुनि का मत तो स्त्रीपुंसलक्षणा प्रकृति का धर्म तो काम-सज्जा है। इसी प्रकार 'नैषध' में पाणिनि-सूत्रों को आधार बनाकर श्लेष का चमत्कार भी दिखाया गया है। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० १।१।५६) का आधार बनाकर इन्द्र को दोषी सिद्ध किया गया है (१०।१३५ या १३६); 'अस्तेर्भूः (अष्टा० २।४।५२) के आधार पर काशी का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है (११।११७); 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (अष्टा० ७।१।३५) का उपयोग प्रभात-वर्णन में किया गया है (१९।६० या ६१); और 'अत इनिठनौ' (अष्टा० ५।२।११५) द्वारा व्याकरण-नियमों की अपेक्षा लोक-व्यवहार की मान्यता प्रमाणित की गयी है (२२।८४)। कवि का कथन है कि जैसे 'शशोऽस्यास्ति इति शशी' उक्त सूत्र के नियम से 'मतुबर्थ' में निष्पन्न होता है, वैसे ही 'मृगोऽस्यास्तीति मृगी' नहीं निष्पन्न होता; अतः 'लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्तिः

नतु लक्षणमुद्दिश्य लक्ष्यप्रवृत्तिः' इसलिए व्याकरण प्रयोगमूल होता है, प्रयोग में 'व्याकरणाल्लोक एव बलीयान् ।'

ऐसे ही 'सु, औ, जस्' के आधार पर श्लेष-चमत्कार दिखाकर नल-प्रशंसा की गयी है। (द्रष्टव्य ३।२३)। नलवर्णन में 'अधीतिबोधाचरण-प्रचारणैः' (१।४) के प्रयोग का आधार है पातंजल 'महाभाष्य'—'चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचन-कालेन, व्यवहारकालेन (भाष्य १।१।१)। अनेक स्थलों पर श्रीहर्ष ने नवीन शब्द-रचना भी की है, जैसे सूननायक, प्रतीतचर और अधिगामुका। (१८। १२४ या १२९)।

षड्दर्शन - न्यायशास्त्री गौतम को (१७।७४ या ७५में) वैशेषिक-कर्त्ता कणाद को (२२।३५ या ३६ में) उपहास का पात्र बनाया है। वेदांतदर्शन पर व्यंग है 'स्वं च ब्रह्म च'—इत्यादिमें (१७।७३ या ७४)। सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धांत (कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति ५।९४), योगदर्शन की संप्रज्ञात समाधि (२१।११८), वैशेषिक के परमाणुवाद (३।३७) और मन की अणुरूपता (१।५९) पूर्वमीमांसा की देवों की सशरीरता (१।१७) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है। 'नैषध' में मीमांसकों का उपहास भी किया गया है (१७।६०–६२)। पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ—पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष (१०।८०)। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के 'उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति' (शंकराचार्य) सिद्धांत के उपयोग के लिए द्रष्टव्य है 'नैषध' १।४०। ब्रह्म-प्राप्ति-पद्धति के लिए द्रष्टव्य हैं २।३; ४; ५।८ और ९।१२१। ब्रह्मविचार (७।४८) भी है और मोक्षदशा का वर्णन भी (९।१२१)।

बौद्धदर्शन—बौद्धदर्शन के शून्यवाद, विज्ञानवाद और साकारतावाद का (१०।८८), पारमिता का (५।११), 'चतुष्कोटि' और 'षडभिज्ञा' (२१।८८) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है और चार श्लोकों में (२१।८८-९१) बुद्धभगवान् के प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है।

जैन-दर्शन—जैनदर्शन के 'त्रिरत्न' (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन; सम्यक् चरित्र) मुख्य तत्त्व हैं। इनका उल्लेख 'नैषध' (९।७१) में है।

चार्वाकदर्शन—सत्रहवें सर्ग (१७–८३) में कलि के वक्तव्य का आधार चार्वाकदर्शन ही है। प्रायः सभी दर्शन-सिद्धांतों का इसमें उपहास है। 'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' का तो उद्धरण ही है (१७।६९)।

सामुद्रिकशास्त्र—सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी 'नैषध' में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'सामुद्रिकसारमुद्रणा' (२।५१) है, पद्म (१।६५), मत्स्य (१।१०५) और वज्र (२०।७१) रेखाएँ भी हैं, ऊर्ध्वरेखांकित चरण भी हैं (१।१८, १३।६)।

तंत्र—श्रीहर्ष तांत्रिक थे, मंत्र-तंत्र के साधक। उनकी चिन्तामणि मंत्र की साधना विख्यात ही है। अनेक तंत्र-परक उल्लेख 'नैषध' में हैं। तंत्रसिद्धि की उपयुक्त अष्टमी-निशा (७।२३), शक्ति-सिद्धि की चौदस की रात (७।९७), चिन्तामणि मंत्र की साधना विधि और फल (१४।८७) के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

प्राणिविज्ञान—जल-स्थल और आकाश तीनों के प्राणियों से संबद्ध ज्ञान का उल्लेख 'नैषध' में है। प्रथम सर्ग में अश्वसंबंधी वर्णन श्रीहर्ष में शालिहोत्र का ज्ञाता सिद्ध करता है। इसमें अश्व-लक्षण, स्वभाव, गति आदि का श्रेष्ठ चित्रण है। हंस-प्रसंग पक्षिविज्ञान का परिचायक है। मयूर, कोकिल, उलूक आदि के भी उल्लेख हैं। जलचर मीन से संबद्ध उल्लेख नेत्रों की उपमा के लिए तो हैं ही, मीन-प्रकृति का भी निरीक्षण मिलता है (४।३५)।

अन्य शिल्प-ज्ञान—रत्नविद्या (१०।९४), चित्रकला (२०।१३६), शकुनज्ञान (५।१३४, १०।९१) तथा षोडश सर्ग में पाककला का ज्ञान भी संकेतित हो जाता है। वस्तुतः लोक-जीवन में श्रीहर्ष की गहरी पैठ थी। लोक-जीवन के व्यवहार और रीतियों के उल्लेख 'नैषध' में प्राप्त हैं। द्रष्टव्य—दीढ लगना और उसका उपाय (२।२६), काजल बनाने की रीति (२२।३१)।

वेद-वेदांग पुराणेतिहासादिका ज्ञान—जहाँ तक इनका प्रश्न है, श्रीहर्ष इस ज्ञान के अधिकारी विद्वान् थे। वैदिक हिरण्मयपुरुष-रूप हंस (१।११७), ब्रह्मानन्द (२।१), वेदपाठ (३।७५, १०।६६, १२।५२) आदि विवरण श्रीहर्ष के वेद-संबद्ध ज्ञान के परिचायक हैं। श्रवण, मनन, विधि निदिध्यासन (३।८२), आनन्दरूप ब्रह्म (५।८), देवानन अग्नि

(१०।२१), शतक्रतु इन्द्र (१७।१०४) आदि के उल्लेख उनके औपनिषदिक ज्ञान का आभास कराते हैं। वैदिककर्मकांड और वैदिक विधियों के अनेक उल्लेख भी 'नैषधीयचरित' में हैं। पुत्रेष्टि, श्येन तथा कारीरीयाग के लिए द्रष्टव्य १७।९४; वैदिक-विधिज्ञान के लिए १७।१७७; दर्श, अग्निष्टोम, पौर्णमास, सोमयाग (१७।१९६), सौत्रामणि (१७।१८२), सर्वमेध (१७।१८६), महाव्रत (१७।२०३) आदि के अनेक उल्लेख श्रीहर्ष ने किये हैं।

वेदांगों में शिक्षा (२।८९), निरुक्तीय व्युत्पत्ति (दमयन्ती २।१८, न्यग्रोध (११।३०, पञ्चशर २२।१८) और ज्योतिष (कवि, बुध १।१७) के उल्लेख 'नैषध' में सहजप्राप्य हैं। उनका छन्दःशास्त्र का ज्ञान पृथक् दिखाया ही जा चुका है।

पुराणेतिहास-ज्ञान के परिचायक तो अनेक उल्लेख हैं। प्रथम सर्ग में बाणपुत्री उषा और श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध की कथा (१।३२), शिवपूजा ने त्यक्त केतकपुष्प (१।७८), मदन-दहन (१।८७), समुद्रान्तर्गत मैनाक (१।११६), और वामनावतार (१।७२४ तथा ५।१३०) के संकेत हैं। प्रलय-वेला में विष्णूदरगत मार्कण्डेय का कई स्थानों पर उल्लेख है (२।९१, १०।३०, १२।९५, २१।९४) राहु द्वारा चन्द्र-ग्रास भी कई स्थानों पर संकेतिक है (१९६, ४।६४, ६५, ७१, ७२, १२।९४, २२।६६, १३६, १४८)। अगस्त्य द्वारा समुद्रपान (४।५१, २२।६७), प्रणाम करते विन्ध्याचल का अगस्त्य की प्रतीक्षा में झुका रहना (५।१३०), दधीचिकथा (५।१११), पृथुचरित (११।१० १२।२०), पारिजात-हरण (१०।२४) ऐरावत को दुर्वासा का शाप (१६।३१), संजीवनी विद्या द्वारा कच का पुनर्जीवन (१९।१५), शर्करागिरि और अमृत-मन्थन (२१।१३९), इत्यादि पौराणिक संदर्भ यत्र-तत्र 'नैषध' में हैं। विष्णुपूजा-प्रसंग (२१ सर्ग) में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि के अनेक प्रसंग हैं।

यत्र-तत्र अन्य शास्त्रों के संदर्भ भी पर्याप्त हैं। अर्थशास्त्र (४।८१ 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः'), धर्मशास्त्र (१।९७, ९।८१, ८२, १५१, ११।९२, १४।६८, १५।६४, २१।१२, २१।२०) के अनेक नियमों

का संकेत हैं। आयुर्वेद-ज्ञान के सूचक हैं—सांक्रामिक रोग का चिकित्सकों में प्रविष्ट हो जाना (३।११), सर्पदंशचिकित्सा (४।३३), ताप-शान्ति के निमित्त नलद (खस) का सुश्रुत और चरक द्वारा अनुमोदित प्रयोग (४।११६)। धनुर्वेद से श्रीहर्ष का अच्छा परिचय प्रतीत होता है, द्रष्टव्य ३।१२६, १२७, १०।११७, ११९, २१।१५८। राजनीति शास्त्र (१०।१३, २०।१३३), और संगीतविद्या (१।५२, ११।६, १२।१६, १५।१६ १७, १८।१३, २१।१२४, १२५, १२७ में नृत्य, गान, वाद्य के संकेत) का संदर्भ है ही। कामशास्त्र के तो श्रीहर्ष विज्ञाता ही थे, अष्टादश सर्ग तो इसका पूर्ण परिचायक है ही, कामदशा (३।१०१, ११४) कामज्वर (४।२) आदि के वर्णन भी हैं। ऐसी कामक्रीडाओं का वर्णन उन्होंने किया है, जिनका ज्ञान न तो महाकवियों को है और न पासुलाओं—स्वैरविहारिणियों को—महाकविभिरप्यवीक्षिताः पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः। (१८।२९)।

दोष—इतने ज्ञानी, अगाध पांडित्य के अभिमानी महाकवि के महाकाव्य में यदि अनेक विद्वानों को दोष भी लगे तो आश्चर्य ही क्या ? आलोचकों की इस दोषदृष्टि को विद्वानों ने इस प्रकार परिगणित किया है।—

(१) भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की प्रबलता।

(२) शास्त्रीय संदर्भों का अतिशय प्रयोग।

(३) क्लिष्ट कल्पनाओं की पुनरुक्तियुता कथावरोधिका अतिशयता।

(४) शृङ्गार की अत्यन्तता और तज्जनित अमर्यादा।

(५) औचित्य का अनिर्वाह। उदाहरणार्थं सभी तरुणियों द्वारा (स्वप्न में ही सही) नल को पति रूप से भजना (१।३०), भृगु, नारद, व्यास आदि का भी दमयन्ती पर मोह (७।९५), स्वयंवर हो जाने पर भी चन्द्रबिन्दु के माध्यम से उसके प्रति इन्द्र का मोह (१५।६४), हरिहरादिदाराओं का सदैव मदन-कारा में वन्दिनी रहना (१७।७६) आदि।

(६) चार्वाकदर्शन के कलि-द्वारा प्रतिपादन से देव-ब्राह्मणादि पर लम्बे आक्षेप।

(७) लंबे अनावश्यक वर्णन।

(८) अप्रचलित तथा नवगठित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दुरूहता और

दुर्बोधता, उदाहरणार्थ अगदंकार, श्यैनंपाता, अकूपार (अप्रसिद्ध, अप्रचलित), अप्रतीतचर, हंसस्पृश, सूननायक आदि (नवगठित) शब्द ।

(९) महाकाव्योचित विस्तृत जीवन-दर्शन का अभाव और एकांगिता ।

(१०) रचना-दोष, जिससे अनपेक्षित अर्थ भी संभव है तथा अनेक शास्त्रवर्णित दोषों की स्थिति; उदाहरणार्थ १।५० में 'भृशं' का दुष्क्रम प्रयोग, चम्पक पुष्प पर बैठने से भ्रमर की मृत्यु की ख्याति-विरुद्धता (१।८६), भ्रमर-पंक्ति का चम्पा को कली पर बैठना--प्रसिद्धिहतता (१।९१), अनेक स्थलों पर क्लिष्टत्व, नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने वाले पद्म का द्वितीया-बहुवचन में पुंलिंग-प्रयोग 'पद्मान्' (१०।१२०)--व्याकरणविरुद्धता आदि ।

(११) शृङ्गार और हास्य इनमें अश्लीलता ।

'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' वाल्यूम १, पृ० ३२८ में डॉ० सुशील कुमार दे ने लिखा है कि आधुनिक दृष्टि के पाश्चात्य जल्दबाज समीक्षक को श्रीहर्ष की कृति अरुचिपूर्ण और शैली की दृष्टि से पूर्णतः असुन्दर लगे तो आश्चर्य नहीं--'इट इज नो वंडर, दैट जजिंग बाय मार्डन स्टैंडर्ड, एन इंपैशेंट वेस्टर्न क्रिटिक शुड स्टिग्मैटाइज दि वर्क एज ए परफेक्ट मास्टर पीस आफ बैड टैस्ट ऐंड बैड स्टायल ।'

वस्तुतः यह दोष-दर्शन 'गुणसन्निपाते' चन्द्रकिरणों में कलंक के समान हैं और कुछ अतिपरंपरावाद तथा आधुनिक समीक्षा दृष्टि के परिणाम भी हैं । 'नैषधीयचरित' के अनुशीलन के समय जल्दबाजी से काम नहीं चलता, उसके लिए सुस्थिरता और सुस्थिर मति अपेक्षित है । श्रीहर्ष की कविता कामिनी की रमणीयता से सुधीजन ही प्रभावित होते हैं, 'कुमारों' (बालकों) के लिए वह नहीं है—

'परमरमणीयाऽपि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते' ।

श्रीहर्ष की उक्ति सुधीजनों को आनन्दित कर सके, इसी में उसकी सार्थकता है, रसहीन जनों के अनादर से उसका कुछ बिगड़ता नहीं—

'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः ।
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ।।'

जहाँ तक शब्द-प्रयोगों में नवगठितता का प्रश्न है, वह तो श्रीहर्ष का स्तुत्य नवीन प्रयास है । राजा के लिए भूजानि (१।२), काम के लिए सूननायक, जाननेहारी के लिए अधिगामुका, पूर्वज्ञात के लिए अप्रतीतचर

(समी १८।१२९), हँसते हुए के लिए हंसस्पृश (१८।१३०) भावव्यंजक नये शब्द हैं। इसी प्रकार अप्रचलित होते हुए भी अगदंकार (चिकित्सक ४।११६), अकूपार (सागर १२।१८), श्यैनंपाता (आखेट १९।१२), मिहिकारुच (चन्द्र १९।३५) हैं। श्रीहर्ष ने तो लोक-भाषा से भी शब्दचयन किया है। जैसे अंगार के लिए इंगाल (१।९), प्रताप के लिए विरुद (११।३७) परंपरा के लिए धोरणि (१५।४९), चपटा के लिए चिपिट (२२।८५)।

वस्तुतः यह दोष नहीं, यह तो भाषा को जीवंत रखने का एक स्तुत्य प्रयत्न है। इसी लिए 'नैषध' को विद्वानों की औषध कहा गया है, वस्तुतः वह तो जराव्याधिविध्वंसि रसायन है पद-लालित्य तो 'नैषध' की सर्वस्वीकृत प्रशस्ति है ही, और भी अनेक प्रकार से उसकी कीर्ति बखानी गयी है:—

(१) तावत् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषवे काव्ये क्व माघः क्व भारविः॥

(२) काव्ये नैषधनाम्नि धाम्नि सुबृहत्यर्थस्य मुक्ताऽवधे-
र्भावान् दूरनिगूहितान् कथमहं सर्वान् प्रमातुं क्षमः।
एतस्मिन् द्युतिमन्ति सन्ति सुबहून्येतानि मध्ये भुवः
साकल्येन लभेत कोऽपि खनिता वज्राणि वज्राकरे॥

(३) कविकुलपतेः श्रीहर्षस्य प्रबन्धरसायनं पिबत श्रोत्रैरन्तर्विभाव्य सचेतसः।
अचतुरपरग्रन्थावर्धैः प्रकोपमुपेयुषः प्रकृतिविषमांश्चेतोरोगान्वेतदपोहतु॥
(टीकाकार विश्वेश्वरभट्टाचार्य)।

श्रीहर्ष की प्रशंसा भी अनेक जनों ने मुक्तकंठ से की है—
श्रीरामचन्द्र शेष ने कहा है:—

यः साहित्यरसामृताब्धिलहरीजालेषु खेलाचलो
यश्चात्यर्थगभीरतर्कजलधेर्मथ्ये स मंथाचलः।
मीमांसायुगसिन्धुतारणविधौ यः कर्णधारः परः
केषामेष मनो विनोदयति न श्रीहर्षनामा कविः॥

ऐसे ही कहा गया है:—

अन्यैः कविभिरक्षुण्णां पदारब्धां सुपद्धतिम्।
समादाय कविः श्रेयः श्रीमान् हर्षः प्रतिष्ठते॥

वरदराज ने कहा है—

प्रत्यक्षलक्षणविचक्षणवादिवृन्ददुर्दन्तिदन्तदलनानि विलासमात्रम् ।
येषां जयन्ति त इमे जगति प्रतीताः श्रीहर्षसिंहनररूपकरप्रहाराः ॥

श्रीहर्ष को समस्तशास्त्रों का वेत्ता मानते हुए कहा गया:—

अमोघचिन्तामणिसिद्धिप्राप्तप्रमामेवं प्रथितप्रतापम् ।
समस्तशास्त्रप्रतिबुद्धविद्यं श्रीहर्षमेकं विबुधं प्रतीमः ॥

वे अनवद्य और हृद्य वाणी की वर्षा करनेहारे खलप्रधर्षी उत्कृष्ट कवि थे:-

कविषु दधतमुत्कर्षं विस्फुरदनवद्यहृद्यवाग्वर्षम् ।
इह खलु खलप्रधर्षं श्रीहर्षं नौमि हर्षसङ्घर्षम् ॥

'साहित्यविद्याधरी'-कार विद्याधर की उक्ति (अष्टौ व्याकरणानि-इत्यादि) पहिले उद्धृत की जा चुकी है, विद्याधर की टीका को ध्यान में रखते हुए 'नैषध' के अन्य टीकाकार चाण्डू पंडित ने उसकी गंभीरता को अथाह बताया है—

टीका यद्यपि सोपपत्तिरचनां विद्याधरो निर्ममे
श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गंभीरतां भारती ।
दिक्कूलङ्कषतां गतैर्जलधरैरुद्ग्राह्यमाणं मुहुः
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुमात्रं क्वचित् ॥

सचमुच श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' विद्वद्दोषघ ही है, उसको समझना-बूझना, उसकी व्याख्या सरल नहीं। श्रीहर्ष के कृतित्व को 'परफैक्ट मास्टरपीस आफ बैड स्टायल' जिन विद्वानों ने कहा है, उनसे विनतापूर्वक यही कहा जा सकता है—'माऽस्मिन् भवान् खेलतु।'

श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' पांडित्यपूर्ण शैली—विदग्धजनसंमानिता प्रौढ शैली में लिखा गया है, वह 'कुमारों' के लिए नहीं है, न भावपक्ष की दृष्टि से, न कलावधारणा की दृष्टि से। अंग्रेजी के विश्व महाकवि मिल्टन की कलाविज्ञता और हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास का पांडित्य इसी परंपरा में आनेवाले प्रयत्न हैं।

(७) **नाम और उद्देश्य**—नाट्याचार्य भरतमुनिने रूपक-विकल्पन के तीन आधार माने हैं—नाम, कर्म और प्रयोग—'नामतः कर्मतश्चैव तथा चैव प्रयोगतः।' (ना० शा० १८।१)। नाम से ही उद्देश्य प्रकट हो जाता है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य का नाम नायक को आधार बनाकर रखा'—नैषधीय-

चरितम्', अर्थात् निषधराज (नल) का चरित। इससे उसका उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है, वह अपने इस 'राजचरित' के माध्यम से निषधराज के महनीय चरित का उज्ज्वल पक्ष दिखाना चाहता है। उसे द्यूत में पराजित श्रीहीन नल का चरित अभीष्ट नहीं, वह नल का वैभव, उसकी कलाविज्ञता, त्रिलोकधन्य पौरुष, उदारता, वदान्यता, दानशीलता, गंभीरता, दृढप्रतिज्ञता, आस्तिकता, विलासकौशल, गभीर अनुराग आदि उत्तम मानवीय गुण पाठकों के संमुख रखना चाहता है। नल-सम्बन्ध से रमणीरत्न दमयन्ती का गौरव भी स्पष्ट हो जाता है। अनेक शास्त्रों के संदर्भ न केवल कवि की बहुज्ञता के परिचायक हैं, कविशिक्षा भी उसका उद्देश्य हैं। यदि 'नैषध' का साङ्गोपाङ्ग गंभीरता से अध्ययन-मनन किया जाय तो सक्षेप में भारतीय वाङ्मय और संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त हो सकता है।

पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार इसके 'दर्शन' में व्यापकता और अपेक्षित उदात्तता भले ही न हो और इस प्रकार उनके समीक्षण में यह एक आदर्श 'एपिक' सिद्ध न हो सके, यह विचारणीय नहीं है, देखना यह है कि 'नैषधीय चरित' उन्हें कितना रिझा पाता है, जिनको ध्यान में रखकर इसका प्रणयन हुआ है, यह 'नैषधीयचरित' अपने सुधी पाठकों को 'सुधीभूय' (अमृत बनकर) मतवाला बना सकता है अथवा नहीं ? यदि कवि के इस कथन अथवा प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में मिलता है, तो यह कहना पूर्णतः उचित है कि अपने उद्देश्य में कृतार्थ है—'किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः' ?

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नैषधीयचरित' के रूप में श्रीहर्ष की 'उक्ति'—'वैदग्धभङ्गीभणिति' क्षीरसागर के समान अमृतदायिनी है, यह पर्वत-पाषाणों से उद्भूत आडम्बरकोलाहल करती नदी नहीं :—

दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम् ।
स परमपरः क्षीरोदन्वान्यमुदीयते
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०४१

—देवर्षि सनाढ्य

॥ श्रीः ॥

नैषधमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीका-सहित-

सान्वय-सटिप्पण-'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

जीवातु—अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" इत्यालङ्कारिक-वचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्था-विघ्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि' त्याशीरा-द्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति–निपीयेति । यस्य क्षितिरक्षिणः क्षमापालकस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिबतेः 'न ल्यपी' ति प्रतिषेधादीत्त्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधा मपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृत-मित्यर्थः, तत् कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्स-वशालीत्यर्थः । 'महः उद्धव उत्सव' इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां

राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः। तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति। "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक" इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरावि' ति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—यस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधाम् अपि तथा न आद्रियन्ते सितच्छत्रितकीर्त्तिमण्डलः महसां राशिः महोज्ज्वलः सः नलः आसीत्।

हिन्दी—जिस पृथ्वीपालक की कथा का पान करके विद्वज्जन अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते, ऐसा (अपने) श्वेत छत्र (आतपत्र) के समान यशोमंडल से युक्त, उत्सवों से देदीप्यमान, तेजोराशि राजा नल था।

टिप्पणी—'नैषधीयचरित' महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष ने विघ्न-विनाश के निमित्त काव्य के नायक राजा नल की कथा-रूप मंगलकारिणी वस्तु का इस श्लोक द्वारा निर्देश किया है,—"आशीःकथन" और 'नमोवाद' के अनुरूप ही कथावस्तु का निर्देश भी मंगलविधायक होता है। राजा नल की कथा अमृत से भी अधिक सरस है, कवि का यह भाव है। 'बुध' शब्द का अर्थ 'देवता' भी है, अतः यह भी भाव है कि सदा सुधापान करने वाले देवता भी राजा नल की कथा का आस्वादन कर अमृत को पहिले जैसा आदर नहीं देते। 'क्षितिर-क्षिणः' को प्रथमा-बहुवचन मानकर यह अर्थ भी हो जाता है कि अन्य धरती के पालक राजा यज्ञादि द्वारा प्राप्त अमृत को भी नल-कथा का आस्वादन कर भूल जाते हैं। 'क्षितिरक्षिणः' का एक अर्थ फण पर धरती को धारने वाले शेष-तक्षकादि नाग भी है और 'सुधा' का अर्थ 'भुजंग-भोजन' भी। इससे भाव यह हुआ कि पातालवासी नागादि भी नल-कथा में उतनी ही रुचि रखते हैं, जितनी कि पृथ्वीवासी बुधजन और स्वर्ग में बसने वाले देवता। भावार्थ यह कि नल का यश त्रिलोकी में ख्यात है। 'सुधाम्+अपि' का खण्ड करके 'नैष-धीयप्रकाश' व्याख्याकार नारायण पंडित 'अपि' का अर्थ 'चन्द्रमा में' करके यह अर्थ भी करते हैं कि देवगण 'सुधाजलधारी' चंद्र को भी राजा नल के समान नहीं समझते।

'क्षितिरक्षिणः' का अर्थ कलि के भय से मुक्ति दिलाने वाला राजा नल भी हो सकता है—क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' हो 'क्षिति' निष्पन्न हुआ, 'क्षिति' अर्थात् नाश। 'क्षितिः + अक्षिणः' (अक्षः वासो यस्य सः अक्षी अर्थात् पाँसे में वास करने वाला कलि) अर्थात् अक्षी-कलि की क्षिति—भय में आदर नहीं रह जाता। कहा जाता है—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। पर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्।'

'अक्षाः यस्य सन्ति सः अक्षी तस्य अक्षिणः' अर्थात् द्यूतव्यसनी राजा नल, उसकी भी 'क्षिति' अर्थात् धरती या राज्य है, यह आश्चर्यजनक भी है। सो द्यूतव्यसनी नरेश की कथा निश्चयतः मनोरंजक होगी, सुधा से भी सरस। कितना विचित्र है कि वह राजा अनंत कीर्तिशाली भी है।

राजा नल 'महसां राशिः' अर्थात् सूर्य के तुल्य तेजस्वी है, 'सः' अर्थात् वही नल। अर्थात् लुप्तोपमा अथवा लुप्तोत्प्रेक्षा अलंकार मानकर अर्थ हुआ कि सूर्यतुल्य तेजस्वी प्रतापी नल के अतिरिक्त कोई नहीं हुआ। नल की यही सूर्य से समता चंद्रादि के प्रति अवज्ञा का कारण भी है। सूर्य ही वर्षा करके अन्नोत्पादक है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः।'

'महोज्ज्वल' का विग्रह 'महैः उज्ज्वलः' करके उत्सवों से देदीप्यमान अर्थ हुआ। 'महान् उज्ज्वलः शृङ्गारो यत्र दमयन्त्याः' विग्रह में यह अर्थ भी संकेतित होता है कि दमयन्ती का उज्ज्वल अर्थात् शृंगार (रति) नल में ही था। 'शृंगारः शुचिरुज्ज्वलः इत्यमरः।

इस सर्ग में प्रथम श्लोक से १४२वें श्लोक (सुताः कयाहूय) तक वंशस्थ छंद है। श्लोक में शब्दालंकार अनुप्रास है। अर्थालंकार उपमान 'सुधा' से उपमेय कथा का आधिक्य—निर्देश होने के कारण व्यतिरेक है और सूर्य और नल का अभेद होने से रूपक अथवा प्राकरणिक नल और अप्राकरणिक सूर्य के श्लिष्ट पद में अनुबन्धन होने से श्लेष। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपक की संसृष्टि तथा रूपक और श्लेष का संकर हुआ। 'सितच्छत्रकीर्तिमण्डलः' सूर्य का भी विशेषण है—'श्वेतातपत्रीकृतं कीर्तियुक्तं मण्डलं यस्य सः'—श्वेत छत्र के समान विस्तृत मंडल वाला सूर्य।

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

जीवातु--इममेवार्थमन्यथा आह--रसैरिति। यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसो गन्धो रसः स्वाद' इति विश्वः। सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः। भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः। 'जायाया निङि'ति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः। स नलः गुणः शौर्य्यदाक्षिण्यादिभिः। अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः। अभूत्। कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रञ्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताचिति ष्यन्तात् कर्म्मणि क्तः। ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्त्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः। इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपेण पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः। अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः॥ २॥

अन्वयः—यस्य नलस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी गुणाद्भुतः (सः) भूजानिः सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्त्तिमण्डलः अभूत्।

हिन्दी--जिस नल की कथा (शृङ्गारादि नव अथवा मधुरादि षट्) रसों के कारण अमृत को तिरस्कारनेवाली है, गुणों के कारण अद्भुत वह भूमिपति ऐसा हुआ, जिसके सुवर्णदण्ड और श्वेत छत्र ही तेजोमयी प्रतापावलि और यशोमण्डल के सदृश थे।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि का यह भाव है कि अनेक गुणों से युक्त होने के कारण राजा नल एक अद्भुत और अनुपम पृथ्वीपति था, धरती ने उसके गुणों पर अनुरक्त हो नलराज को ही अपना स्वामी स्वीकारा था। कथा के अमृत-तिरस्कारिणी होने में उसका नवरसमयी होना है। जिससे वह मधुरादिषड्-रसमयी सुधा से श्रेष्ठ है। राजा नल में गुण भी अनेक हैं। वह 'सुधावधीः' (शोभनं धावतीति सुधा पुण्यसंचारिणी धीः यस्य सः) अर्थात् पुण्यचरित्र है (महाभारतांतर्गत 'नलोपाख्यान' (८।१) में तथा अन्यत्र नल 'पुण्यश्लोक' कहा गया है, तदेव (१।१-४ में) नल के अनेक गुणों का उल्लेख है); 'रणो' (रणः अस्यास्तीति) अर्थात् रणशूर है 'भूजानिः' अर्थात् पृथ्वीपति है। इस प्रकार वह मन्त्र, उत्साह और प्रभु शक्ति से सम्पन्न है। 'सुवर्णदण्डैक'—इत्यादि विशेषण से नल का प्रतापी और यशस्वी होना द्योतित है। 'शोभमानः न्यायः द्विजातिवर्णानां दण्डः शासनं वा यत्र तथा एकं

सितातपत्रं यस्मिन् तादृशं मण्डलं राष्ट्रं यस्य सः' विग्रह द्वारा नल न्यायी, सुशासक वर्णाश्रमव्यवस्थापक संकेतित होता है। 'भूजानि' नल ही था, इससे 'भू' के समान दमयंती का पति वही हुआ, यह भी व्यंग्य है।

यहाँ व्यतिरेक और रूपक की संसृष्टि है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ कथा के सुधावधीरिणी होने से व्यतिरेक है और 'सुवर्णदण्ड–सितच्छत्र' से क्रमशः 'प्रतापावलि कीर्त्तिमण्डल' विशेषित होने से यथासंख्य है, इस प्रकार व्यतिरेक–यथासंख्य का संकर है।

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

जीवातु––सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयंत्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्––'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ ३ ॥

अन्वयः––तत्कथा स्मृता अत्र युगे जगत् पवित्रम् आतनुते, सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिरं रसक्षालनया इव कथं न पवित्रयिष्यति ?

हिन्दी––वह कथा स्मरण करने पर इस युग में भी संसार को पवित्र कर देती है, वह दोषमयी किन्तु 'स्वकथैकतत्परा'––नल की ही कथा कहने में लग्न––मेरी वाणी को मानो शृङ्गारादि उज्ज्वल रसों से परिक्षालित करके भला क्यों न पवित्र करेगी ?

टिप्पणी––इस श्लोक में कवि-विनय प्रतिपादित है, जिसकी नल चरित्र के वर्णन में ही आसक्ति है, इसी सम्भावना के कारण 'साहित्यविद्याधरी' में

यहाँ उत्प्रेक्षा मानी गयी है। रस का अर्थ नवरस भी है और जल भी, सो श्लेष है। जो कथा स्मरणमात्र से पवित्र करती है, वर्णन से तो और भी करेगी इस अर्थान्तर की आपत्ति हो जाने के कारण 'अर्थापत्ति' अलङ्कार है। 'कथं न पवित्रयिष्यति अपितु पवित्रयिष्यत्येव'--काकुवक्रोक्ति।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्त्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

जीवातु--अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह-अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश' त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति ॥ ४ ॥

अन्वयः--अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान् (इति) स्वयं न वेद्मि।

हिन्दी--इस राजा नल ने अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और प्रचार--इन चार प्रकारों से क्यों चौदह विद्याओं को 'चतुर्दशत्व' ही बनाया--चौदह को चौदह ही रहने दिया--यह मैं स्वयं नहीं समझ पाता।

टिप्पणी--राजा नल चारों वेद, षड् वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण--इन मनु प्रतिपादित चौदह विद्याओं (याज्ञवल्क्य के अनुसार चौदह विद्याएँ हैं--पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि

विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।) के न केवल ज्ञाता ही थे वे उनका स्वाध्याय भी करते थे, तदनुकूल जीवन-व्यवहार भी चलाते थे और उनके प्रचार-प्रसार में भी तत्पर थे । 'चतुर्दश' का अर्थ चौदह तो है ही, 'चतुर्दशत्व' का अर्थ चार 'अधीतिबोधाचरणप्रचारण' दशा भी है, सो कवि (काकु से) से 'चतुर्दश' का 'चतुर्दशत्व' क्यों है, यह समझ ही गया है । राजा नल चौदहों विद्याओं के चारों व्यवहार में तत्पर रहते थे ।

चतुर्दश के चतुर्दश ही रहने में विरोध प्रतीत होता है किन्तु पुनः 'चतुर्दशत्व' का अर्थ चार दशा कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है, अतः 'विरोधाभास' अलंकार है । 'साहित्यविद्याधरी' में यहाँ उत्प्रेक्षा बतायी गयी है ।

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

जीवातु—अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्त्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः । विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः । त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' त्यमरः । अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि' त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत् विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत । पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्वणानुल्वणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः । प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः । 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति । अङ्गविद्यागुणेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय-विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः । त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम् । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥५ ॥

अन्वयः—अमुष्य रसनाग्रनर्त्तकी विद्या त्रयी इव अङ्गगुणेन विस्तरं नीता नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् जिगीषिया अष्टादशताम् अगाहत।

हिन्दी—जिह्वा के अग्र भाग पर नर्तन करती इसकी विद्या ऋक्, यजुः, सामन्—इस वेदत्रयी की भाँति छः वेदांगों से गुणा करके विस्तार को प्राप्त होकर जैसे नौ के दूने अठारह द्वीपों को अलग-अलग जीतने की इच्छा से अठारह हो गयी।

टिप्पणी—नल समस्त विद्याओं के पूर्णज्ञाता थे और उन्होंने अठारह द्वीपों पर अपना महिमान स्थापित किया था—कवि का यहाँ यह आशय है। इसी भाव की विविध प्रकार से योजना की जाती है। अठारह को जीतने के लिए अठारह विद्या (प्रकार) सुखकर हैं, अतः एक विद्या को अठारह कर लिया गया, जैसे तीन वेद और उनके (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छंद और (६) ज्योतिष—ये षडंग। ६ × ३=१८। विद्यारसना—रसास्वादन करने में निपुण है, सो 'मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्त' इन छः रसों का गुणन। इस प्रकार नल के पाकशास्त्री होने का संकेत। इन छः रसों के परस्पर न्यूनाधिक्य से त्रिगुणा करके छः रसों का भी अष्टादशत्व होता है। सूपशास्त्र के अनुसार अष्टादशत्व है—'दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुगम्। मध्वारविकहविष्यं विदलान्नं चेति विज्ञेयम्॥ कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलञ्चेति। अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिसुतया। तीन प्रकार के धान्य होते हैं—(१) कणिशवाले व्रीहि आदि, (२) शिंबी (फली) वाले मूँग आदि और (३) घंटकमय चना आदि। भूचर, जलचर और खेचर प्राणियों का तीन प्रकार का मांस। छः रस। कंद, मूल, फल, नाल, पत्र, पुष्प—छः प्रकार का शाक, सो ३ + ३ + ६ + ६=१८। विद्या नर्तकी है, सो वह एक नर्तकी भी शिर, हाथ आदि षडंग, ग्रीवा—बाहु आदि छः प्रत्यंग और भ्रूनेत्रादि छः उपांग (६ + ६ + ६=१८)—प्रकार से अष्टादशत्व को प्राप्त होती है। अथवा १४ विद्याएँ + ४ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र =१८। नल को पाँसा विशेषज्ञ—'अक्षी' माना गया है। चतुरंग द्यूत, द्विक, त्रिक, चतुष्क, पंचक और चार उड्डीयक (२ + ३ + ४ + ५ + ४=१८)

योग से अठारह हुआ, नल उसके भी वेत्ता थे। अथर्व वेद को शेष तीनों वेदों का सार या उद्धार माना जाता है। यह अथर्व वेद १ + वेदांग ६ + अप्रधान पुराण (न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थशास्त्र) ८ + वेद ३ = १८ का योग। इस प्रकार नल परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी और सरस्वती के पात्र थे।

मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यञ्जन का अप्रयोग होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा है 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार 'जिगीषया' द्वारा अध्यवसाय के सिद्ध होने से अतिशयोक्ति। नारायण पंडित यहाँ उपमा मानते हैं।

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

जीवातु—अथास्य देवांशत्वमाह—दिगीशेति। दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः। तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीरि' ति। अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः। दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते। कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः। कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः। निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी' ति कृद्योगसमास्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम्। द्वयाधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्र बभार दध्रे। एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते। शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकर्मद्वयम्। अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप्-सुपे' ति समासः, न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः। अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—दिगीशवृन्दांशविभूतिः ईशिता सः शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकं दृशं बभार।

हिन्दी—अष्ट दिक्-पालों (इन्द्र, अग्नि, यम, वायु, सूर्य, वरुण, चन्द्र, कुबेर) के अंशों से उत्पन्न (स्मृति के अनुसार राजा अष्ट लोकपालों की मात्रा से युक्त होता है) अष्ट दिशाओं का स्वामी वह (राजा नल) काम के प्रसार की अवरोधक, अपने को त्रिनेत्र शिव के अवतार होने का बोध कराने वाली द्वय से अधिक् अर्थात् तीसरी शास्त्र रूप दृष्टि को धारण करता था।

टिप्पणी—राजा सब देवों से बड़ा 'महादेव' था, यह दो तर्कों से प्रमाणित किया गया है—(१) इन्द्रादि लोकपाल एक-एक दिशा के स्वामी हैं, नल आठों का। (२) वह सामान्य नेत्र युगल के अतिरिक्त त्र्यम्बक शिव के समान काम अर्थात् स्वेच्छाचार की निरोधिका शास्त्र दृष्टि से समन्वित था। राजा नल शास्त्रानुसार आचरण करता था। और अष्टलोकपालांश था, इस प्रकार वह त्रिनेत्र शिव के अवतार-सदृश था। मनुस्मृति (५।९६) के अनुसार—'सोमाग्न्य-र्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च। अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः॥'

साहित्य-विद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा है। 'दृशम् शास्त्राणि' में रूपक और नल के विभूति भेद होने पर भी अभेद कथन से अतिशयोक्ति है, इस प्रकार रूपक और अतिशयोक्ति का 'संकर' है।

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ?।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥७॥

जीवातु—अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्म वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः—'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञान-मुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थि-रीकृते निश्चलीकृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः। यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपि शब्दार्थः, कृशः, दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विना' वितिं विश्वः। दधौ धारयामास। अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत्।

किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

अन्वयः—अमुना चतुर्भिः पदैः सुकृते स्थिरीकृते कृते के न तपः प्रपेदिरे यत्र कृशः अधर्मः अपि एकाङ्घ्रिनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्विताम् दधौ ॥

हिन्दी—इस (नल) के द्वारा चारों पैरों से सुकृत—धर्मके निश्चल किये जाने पर कृतयुग में कौन तपस्यारत न हो गये (अपितु सब हो गये), क्योंकि दुर्बल अधर्म भी एक पैर पर खड़ा धरती को छूता तपस्या करने लगा ।

टिप्पणी—राजा नल को त्रेता में उत्पन्न माना जाता है, उसने अपने पुण्य से त्रेता में भी धर्म की पूर्ण स्थापना करके सतयुग ला दिया था, जिसमें धर्म चारों पैरों से विचरण करता है और अधर्म एक पैर से, सो जब अधर्म भी धरती पर एक पैर से खड़ा हो तपस्वी हो गया तो और कौन तपस्वी न हो जाता । इस प्रकार राजा नल का पूर्णधर्मात्मत्व सिद्ध किया गया है । धर्म के चार चरण हैं—सत्य, अस्तेय, शम और दम अथवा तप, दान, यज्ञ और ज्ञान । नल के राज्य में सर्वत्र यही आचार धर्म था ।

नल के शासन में अधर्म भी धर्माचारी हो गया तो अन्य कौन न हो जाता यह 'अर्थापत्ति' है और अधर्म भी धर्म हो गया यह विरोध, अतः अर्थापत्ति—विरोध की संसृष्टि है । साहित्य विद्याधरी के अनुसार अधर्म का धर्मी हो जाना विरोध है, जिसके परिहार से 'विरोधाभास है' और सब के तपोनिष्ठ हो जाने का 'अनुमान' है । शब्दालंकार अनुप्रास है ।

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

जीवातु—अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति—यदित्यादिभिः । अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहिः । मञ्जशब्दादिमनिच्प्रत्ययः । यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः । सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति

भावः। अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति। अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः॥ ८॥

अन्वयः—अस्य यात्रासु बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यत् रजः तत् एव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितं पङ्कीभवत् विधौ अङ्कतां दधाति।

हिन्दी—इस (नल) की (विजयार्थ) यात्राओं में सेना के द्वारा उड़ायी गयी स्फुरित होते प्रताप-रूप अग्नि के धूमसम मनोहारिणी जो धूल थी, वही जाकर क्षीरसागर में गिरी और कीचड़ बनकर चन्द्रमा में कृष्णचिह्न हो गयी।

टिप्पणी—प्रथम सात श्लोक में नल के महिमान का वर्णन करके श्रीहर्ष अब सात ही श्लोकों में उसके प्रताप का वर्णन कर रहे हैं। दिग्विजयेषिणी नल की सेना जब चलती थी तो उससे प्रचुर धूल उड़ती थी, जो स्वाभाविक है। क्षीर सागर के जल से मिलकर उसके कीचड़ होकर चन्द्रकलंक बन जाने की सम्भावना से सेना-बाहुल्य और समुद्र-पर्यन्त उसकी गति द्योतित है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा मानी है और 'जीवातु'-कार ने व्यंजक का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा। 'साहित्य-विद्याधरी'कार अतिशयोक्ति मानते हैं। 'प्रतापानलधूम' से औपम्य में रूपक है।

'तिलक'—व्याख्या में बताया गया है, यह प्रश्न उठाकर कि कीचड़ बनी धूलि का चन्द्र-कलङ्क होना क्या वस्तुगति द्वारा सूचित होता है अथवा उसकी उत्प्रेक्षा होती है? दोनों ही सम्भव नहीं है। पहला इस कारण सम्भव नहीं क्योंकि पुराणादि में ऐसी कोई कवि-प्रसिद्धि नहीं है। उत्प्रेक्षा इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि 'इव' आदि द्योतक पद का अभाव है। वस्तुतः 'तदेव' में जो 'एव' है, वह प्रसिद्ध पक्षांतर के अस्वीकारार्थ या निषेधार्थ है, जिससे यह द्योतित होता है कि चन्द्र-कलंक प्रसिद्ध मृग, शशक आदि नहीं है, नल-सैन्य द्वारा उद्धत धूलि ही है।

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे॥ ९॥

जीवातु—स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य

परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि' त्यमरः। तथा व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयतेः कर्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्तिं वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः॥ ९॥

अन्वयः—परशताः परे संगरे निजस्य स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनांशुगप्रगल्भ वृष्टिव्ययितस्य तेजः शिखिनः अङ्गारम् इव अयशः वितेनुः।

हिन्दी—शताधिक अर्थात् असंख्य शत्रु संग्राम में स्फुरित होते, टंकारते धनुष से उस (नल) द्वारा छोड़े गये असंख्य बाणों की असह्य वर्षा के कारण बुझे स्वकीय तेज रूप अग्नि के अंगारों के सदृश अयश का विस्तार करते थे।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के शत्रुओं के निश्चत पराजय और नल के अद्भुत धनुर्धारी होने का भाव है। मल्लिनाथ ने इसमें रूपक और उत्प्रेक्षा का अंगांगिभाव संकर अलंकार माना है। साहित्य-विद्याधरी में उपमा और रूपक अलंकार बताये गये हैं।

'प्रकाश' व्याख्या में 'स्फुरद्'-इत्यादि का विग्रह इस प्रकार किया गया है—स्फुरत् धनुर्निस्वन, यस्य एवं विधश्च सः तस्य घना ये आशुगास्तेषां प्रगल्भा या वृष्टिस्तया व्ययितस्य।' 'प्रकाश'—कार ने यह भी कहा है कि 'स्फुरद्धनुर्निस्वनो यस्याम्' ऐसा विग्रह करके यह वृष्टि का विशेषण भी हो सकता है। उन्होंने दो प्रकार से और भी विग्रह किया है—'धनुर्निस्वनं तनोति तयते वा धनुर्निस्वनंतत् स्फुरन्प्रकाशमानश्चासौ धनुर्निस्वनं तच्च तस्य। अथवा स्फुरन्तौ धनुर्निस्वनौ धनुः सिंहनादौ यस्य चासौ स एव घनो मेघस्तस्या शुगा शिघ्रगामिनी प्रौढा च या वृष्टिस्तया व्ययितस्य। शिखिपक्ष में—स्फुरन्ती इन्द्रधनुर्गर्जिते येषु ते च घना स्तेषामाशुगा शीघ्रगामिनी प्रौढा, आशुगेन वायुना वा प्रौढा या वृष्टिस्तया व्ययितस्य। एक और भी सम्भावना की है—'निस्वनं तन्वन्तीति निस्वन ततः स्फुरद्धनुर्युक्ता निस्वन ततश्च ये घनाः मेघा इति।'

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

जीवातु—अनल्पेति । राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघातीत्यर्थः 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः । नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थतेजोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः । ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वादिति भावः । जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरितिशेषः । नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः । केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः । नीराजनया आरार्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज । तत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्यप्रयोगादगम्या । इति व्याचक्षते । तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

अन्वयः—स राजघः अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद् भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज ।

हिन्दी—शत्रु राजाओं का हंता वह (नल) शत्रुओं की प्रभूत पुरियों को जलाडालने वाले अग्नि से उज्ज्वल स्वकीय प्रतापपुंज द्वारा जलते-दमकते भू-वलय (भूखंड) की प्रदक्षिणा करके विजयार्थ प्रस्तुत आरार्तिक—आरती से सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—राजा नल जब भी सामान्य शत्रुओं को नहीं, राजाशत्रुओं को जीतकर और उनके नगरों को क्षार-क्षार कर विजयी हो लौटता था, तब पुरोहितादि विजयी नरेश की आरती उतारा करते थे । 'भूवलय की प्रदक्षिणा' से नल का समस्त पृथ्वी-मंडल का जेता होना घोषित है ।

'नीराजना' का अर्थ आरती तो है ही, राजाओं का अभाव करना भी

है—'राज्ञामभावो नीराजं नीराजकरणं नीराजना तया।' अर्थात् शत्रुनृपों का विनाश करके नल सुशोभित होते थे। इसका अन्य अर्थ जल-क्षेपण भी है—'नीरस्य शान्त्युदकस्याजनया क्षेपणया' अर्थात् स्वपुरवसियों द्वारा फेंके गये शांतिसलिल से राजा शोभित होता था। तृतीय चरण का अन्य प्रकार से पदच्छेद करके यह अर्थ भी लिया जाता है कि विष्णु-रूप राजा नल की अजया —लक्ष्मी नीराजना उतारती थीं—'प्रकृष्टा दक्षिणा येषां ते प्रदक्षिणा वदान्या ते सन्ति यस्य सः 'प्रदक्षिणी (प्रकृष्ट दान करने वाले अनुगत हैं जिसके, ऐसा राजा नल), अथवा प्रकृष्टदक्षिणा ज्योतिष्टोमादयो यस्य सन्तीति प्रदक्षिणी (अनेक ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का कर्ता), अतएव कृती (कर्मकुशलः, पुण्यशीलो वा) अजया लक्ष्म्या आय विष्णवे सृष्टया नीराजनया रेजे।

'साहित्य-विद्याधरी—कर्ता इसमें अनुप्रास और लुप्तोपमा का निर्देश करते हैं। एक यह अर्थ भी किया जाता है कि ज्वलत्प्रतापनल से उज्ज्वल नल नाना दिशाओं के विजयनिमित्त भूमंडल में परिभ्रमण करना मानों भू देवता की नीराजना उतारता था; इस प्रकार व्यंजकादि का अभाव होने के कारण यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है। मल्लिनाथ इसे समीचीन नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार 'निजप्रतापैः' और 'नीराजनया' में सामानाधिकरण्य की संगति नहीं बैठती। यह कल्पना करके कि प्रतापानल द्वारा नीराजना हो रही है और अरिपुर उसकी वर्तिका हैं, यह उत्प्रेक्षा है कि उसी से राजा भू-वलय की आरती उतारता है। इस प्रकार रूपक और उत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव के कारण यहाँ संकर है।

निवारितास्तेन महीवलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

जीवातु—निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः'॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः

सत्याः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः॥ ११॥

अन्वयः—तेन अखिले महीतले निरीतिभावं गमिते निवारिताः अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः नूनं प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः न तत्यजुः॥

हिन्दी—उस (राजा नल) के द्वारा समस्त पृथ्वीतल के निरीतिभाव (जहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल, चूहे, तोते और आक्रांत शत्रुनृप—ये छः ईतियाँ न रहें) को प्राप्त करा दिय जान पर प्रतिरोध (रोक) प्राप्त अतिवृष्टियों ने अन्यत्र आश्रय न पाकर निश्चय ही शत्रु-राजाओं की मृग-नयनाओं के नेत्रों को नहीं तजा (रिपुनारियों की आँखों में सदा को बसेरा कर लिया)।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल पुण्यात्मा, सदाचरण और महान् पराक्रमी था। न तो उसके कारण इस धरती पर अतिवृष्टि आदि आपदाएँ रह गयी थीं और न अन्य राजागण उस पर आक्रमण का हो साहस कर पाते थे, सभी शत्रुओं को उसने पराजित कर दिया था; अतएव अतिवृष्टि आँसुओं के रूप में सदा रिपुनारियों के नेत्रों में जा बसी थी।

'नूनम्'—इस उत्प्रेक्षाबोधक शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। 'प्रकाश'-कारने प्रतीपभूपालमृगीदृशाओं के नेत्रों से निरंतर अश्रु प्रवाह के आधार पर यह भाव लेकर कि नल ने सभी दुष्ट भूपालों का विनाश कर दिया, यहाँ 'पर्यायोक्त' अलंकार माना है, क्योंकि गम्य का अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त है—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाख्यानं पर्यायोक्तम्।' साहित्य-विद्याधरी के अनुसार 'अतिवृष्टयः.....न तत्यजुः'—इस कथन के आधार पर यहाँ अतिशयोक्ति है।

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी॥ १२॥

जीवातु—सितांश्विति। महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा

वायदण्ड' इत्यमरः। तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतेः क्वनिप्-प्रत्ययः। 'वनो र चे'ति ङीप् रश्च। तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयन-साधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः। 'माकु' इति प्रसिद्धा, रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्य्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम्। 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छा-दनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान। साङ्गरूपकमलङ्कारः। संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः॥ १२॥

अन्वयः—महासिवेम्नः सहकृत्वरी तद्भटचातुरीतुरी सितांशुवर्णैः तद्गुणैः रणाङ्गणो बहुम् दिगङ्गनाङ्गाभरणम् यशः पटं वयति स्म।

हिन्दी—महान् कृपाण रूप वयन काष्ठ (बुनने का लकड़ी का बना यंत्र-विशेष) की सहकारिणी उस नल योद्धा (अथवा उस नल के सैनिकों) की चतुरता रूपी तुरी (बुनने का दूसरा यंत्र, जिसमें बाने का सूत भरा जाता है अथवा बुनकरों की कूची) चंद्रमा के समान शुभ्रवर्ण के उस (नल) के गुण (शौर्य, औदार्य आदि) रूप गुणों (सूत के धागों) से रणभूमि में दिक्-सुन्दरियों को सोहने वाला प्रचुर यश रूप वस्त्र बुना करती थी।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि महान् शूर और पराक्रमी राजा नल विशिष्ट कृपाण प्रयोग कर्ता था, तलवार चलाने की कला द्वारा उसने अभी सभी शत्रुओं को चतुर्दिक् परास्त कर दिया था और सब ओर उसकी कीर्ति का विस्तार हो गया था।

बुनकर के वयनयंत्र तुरी से नल की 'चातुरीतुरी' विशिष्ट है, क्योंकि यह अनेक वस्त्र एक साथ बुनती है, अतः नारायण पंडित के अनुसार यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। 'गुण' शब्द यहाँ श्लिष्ट है और 'महासि' में 'वेय' 'चातुरी' में 'तुरी' और 'यश' में 'पट' का रूपारोप है, अतः साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ श्लेष और रूपक है॥ १२॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया त्रिरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ १३॥

जीवातु—प्रतीपेति। प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्झिता त्यक्ता किम्? यद् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्य्यं जयतीति तथाभूतः। अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक्। 'राजानश्चारचक्षुष' इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपि विरोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशश्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजातादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः॥ १३॥

अन्वयः—किं भिया प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि ततः भेत्तृता उज्झिता? यत् सः ओजसा अमित्रजिद् (अपि) मित्रजित्, विचारदृक् अपि अविचारदृक् अवर्त्तत।

हिन्दी—क्या डर से शत्रुनृपों के सदृश परस्पर विरोधी धर्मों ने भी उस (नल) से भेद-भाव छोड़ दिया था? क्योंकि वह अपने तेज के कारण अमित्र-जेता (शत्रुजयी और सूर्य को न जीतने वाला) होकर भी मित्रजेता (मित्रजयी और सूर्यजयी) था और विचारदृक् (विवेक अथवा गुप्तचरों के द्वारा सूचना पाने वाला 'चारचक्षु') होकर भी अविचारदृक् (अविवेकी और अचारचक्षु) था।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'विरोध' अलंकार है। अमित्रजित् (सूर्य का अजेता) होकर भी कोई मित्रजित् (सूर्यजयी) कैसे हो सकता है? विरोध के परिहारार्थ अर्थ हुआ शत्रुओं को जीतने वाला होकर भी तेज से सूर्य का जेता था, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी था। इसी प्रकार विचारदृक् (विवेकी) होकर भी राजा अविचारदृक् (अविवेकी) कैसे हो सकता है? परिहारार्थ है, राजा विवेकी था और गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचारों के आधार पर सारा संसार हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करता था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ

विरोध—उत्प्रेक्षा का संकर है। कुछ टीकाकार 'इव'--प्रयोग से उपमा—उत्प्रेक्षा—विरोध का संकर मानते हैं ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥१४॥

जीवातु–तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रतापः इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशतस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा करुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिद्धचान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्य्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

अन्वयः—तदोजसः तद्यशसः इमौ वृथा स्थितौ इति विधिः यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवात् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति।

हिन्दी—राजा नल के तेज और यश के रहते ये दोनों (सूर्य, चन्द्र) व्यर्थ हैं—विधाता जब-जब यह मन में करता (विचारता) है, तब-तब परिवेष (गोलघेरा, जो कभी सूर्य-चन्द्र के चारों ओर दीख पड़ता है) के व्याज से सूर्य और चन्द्र पर कुण्डलना (व्यर्थतासूचके रेखामंडल) बना देता है।

टिप्पणी—नल के तेज के रहते सूर्य निष्प्रयोजन है और यश के रहते चन्द्रमा। अर्थात् नल सूर्य से अधिक तेजस्वी है और चन्द्रिका से अधिक आह्लादिका उसकी कीर्ति है। विधि द्वारा सूर्य-चन्द्र पर कभी-कभी दीखनेवाली कुण्डलता खींच देना—प्रतिपादित करके कवि ने यही उत्प्रेक्षा की है। प्रकृत परिवेष के अप्रकृत कुण्डलता-कथन के आधार पर यहाँ अपह्नुति अलंकार है, साहित्यविद्याधरी को भी यही स्थापना है। प्राचीन व्याख्याकारों ने यहाँ सापह्नवा गम्या उत्प्रेक्षा मानी है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥१५॥

जीवातु-अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति-अयमिति विभज्येति च। अल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादप अल्पतरुः वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः । अयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधसः इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अल्पितकल्पपादपः नृपः दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय 'अयं दरिद्रः भविता'—इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीं वैधसीं लिपिं मृषा न चक्रे ।

हिन्दी—कल्पवृक्ष को भी (स्वदानशीलताधिक्य से) छोटा बना देनेवाले उस राजा ने दारिद्र्य को भी दरिद्र बनाकर 'यह दरिद्र होगा'—इस याचकों के ललाट पर जागती-दीपती विधाता की लिपि को झूठी नहीं किया ।

टिप्पणी—कल्पवृक्ष याचक को देता है, किन्तु नल अयाचकों को भी देता था, इस प्रकार उसके सम्मुख कल्पवृक्ष भी छोटा पड़ गया और इस प्रकार दरिद्रों के भाल पर विधाता की लिखी लिपि झूठी नहीं पड़ी, भाल पर लिखी दरिद्रता ही दरिद्र बन गयी मिटकर। अथवा 'काकु' मानकर यह अर्थ भी हो सकता है कि विधि-लेख को प्रभूतदान के द्वारा झूठा कर दिया। भाव यह है राजा नल इतना दानी था कि भूमण्डल पर दरिद्रता का नाम भी नहीं रह गया था। इस तथा अगले पद्य में भी राजा की दानशीलता का वर्णन किया गया है ॥१५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराश्शिरस्थितम् ॥१६॥

जीवातु—विभज्येति। मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः अर्थिने देयमिति 'देये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः। सिन्धुः समुद्रः

उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रक्षिता इति यावत्, फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः। विलासिनां पुंसां सीमन्ततशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुह' इत्यमरः शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः। अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः। अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम्॥ १६ ॥

अन्वयः—यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैः मेरुः न कृतः (अथवा मेरुः उत्सर्गजलव्ययैः सिन्धुः न कृतः), तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरः स्थितं निजायशोयुगम् अमानि।

हिन्दी—जो कि सुमेरुगिरि को खण्ड-खण्ड करके याचकों के अधीन नहीं कर दिया, और दानार्थ जल उलीचते-उलीचते समुद्र को मरुस्थल नहीं बना दिया (अथवा दानजल से मरुस्थल को समुद्र नहीं बना दिया) सो उस (नल) ने (बीच में माँग निकाल कर काढ़े गये) दोनों ओर करके सँवारे गये अपने केशों को अपने शिरःस्थित—शिरोधार्य—अयश के प्रतीकरूप स्वीकारा।

टिप्पणी—कवि का भाव यह है कि कल्पवृक्ष से भी अधिक याचकों की इच्छा पूर्ण करने पर भी नल की इच्छा भरी नहीं थी, वह अभूतपूव दान करना चाहता था, जो न कर सकने के कारण अपने को असंतुष्ट मानता था।

काले केशों की समता कविसमयस्वीकृत अयश से होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ व्यस्तरूपक माना है। केशों की केशता का निषेध करके उन्हें अयशोयुग्म मानने की कल्पना के कारण साहित्यविद्याधरी-कार इस श्लोक में अपह्नुति मानते हैं॥१६॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ १७॥

जीवातु–अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह–अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः। अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः। कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण न बुधेन विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भाववच्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कारः॥ १७॥

अन्वयः—दिनेश्वरश्रीः परीयान् अयं देवः अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च समं मुद्रा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ।

हिन्दी—दिनपति (सूर्य) की शोभा धारण करना, बुद्धिमान् यह राजा नल निरन्तर काव्याभ्यास करते कवि शुक्राचार्य और विद्वान् वैयाकरण बुध के साथ सानंद समय व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उसी प्रकार अभ्युदय प्राप्त करता रहा, जिस प्रकार दिनेश्वर श्री सूर्य कवि शुक्र ग्रह और बुध (चंद्रतनय) ग्रह के साथ प्रभात, मध्याह्न, संध्या आदि का विधान करता, तेज विकीर्ण करता, प्रतिदिन उदित होता है।

टिप्पणी—राजा काव्य, शास्त्रादि-परिशीलनकर्ताओं के साथ समय व्यतीत करता था, अतएव उसका अभ्युदय हो रहा था। ज्योतिःशास्त्र के अनुसार उदय होते सूर्य के साथ शुक्र और बुध रहा करते हैं—'बुधशुक्रौ सदा पूर्वोत्तरराशिस्थौ।'

साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा–श्लेष-सहोक्ति अलंकार हैं। दिनेश्वरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य सः—ऐसा विग्रह करने पर यहाँ निदर्शना अलंकार है और बुध, कवि द्वयर्थवाची हैं, अतः श्लेष भी है। इस प्रकार निदर्शना-श्लेष का संकर है॥१७॥

अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ १८॥

जीवातु—अध इति। कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्मभूतयोः अधोविधानात् अधःकरणात् न्यक्करणादिति यावत्। तथा अखिलानां सर्वेषां

क्षमाभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः। 'यावत् पुरा-निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम् ? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्य-सुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरस्सु दानात् अस्य पदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति—इति वेधसा इदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?

हिन्दी—कमल और प्रवाल को नीचा करने और समस्त पृथ्वीपतियों के शिरों पर स्थित होने के कारण इस (नल) का चरण आगे चलकर ऊँचा रहेगा—मान्य होगा, इसी कारण क्या विधाता ने उसके चरण को ऊर्ध्व रेखाओं से पहले से ही चिह्नित कर दिया था।

टिप्पणी—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार चक्रवर्ती के चरण में ऊर्ध्व रेखाएँ अंकित होती हैं, वे नल के चरण में भी थी, उसी पर यह कवि की कल्पना है—सम्भावना, अतः स्पष्टतः उत्प्रेक्षा है ॥१८॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम्।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥ १९ ॥

जीवातु—अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति—जगदित्यादिभिः। अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः। जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः। कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान्। अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः। वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत संश्लिष्टवत्। उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च कोशम् अक्षयं प्रणीतवान्, अथ रतीशस्य सखा ऋतुः यथा वनं तथा यौवनम् अस्य वपुः अलिङ्गत्।

हिन्दी—जिसकी बाल्यावस्था अभी शेष है—अर्थात् षोडशवर्षीय इस (नल) ने जगत् विजय करके अपने कोष को अक्षय बना दिया, अनंतर जैसे रतिपति काम का सखा ऋतु वसंत वन में आता है, वैसे ही यौवन ने इसके शरीर का आलिंगन किया।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि यह बताना चाहता है कि नल ने यौवन आने से पूर्व ही जगद्विजय करके अपना भण्डार अक्षय बना लिया। उपमा ॥१९॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ?
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

जीवातु—अधारीति। तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः। अधारि धृता। पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः। तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्। तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः। शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः। सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः। पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः। 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालाट्ठञ् 'नस्तद्धित' इति टिलोपः। स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दासे कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते। अत्र अङ्घ्रयादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

अन्वयः—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयच्छायलवः अपि क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः।

हिन्दी—उसके चरण ने पद्मों के प्रति घृणा अथवा दया या उपेक्षा का भाव दिखाया और पल्लव में तो उसके हाथ की कांति का लेश भी कहाँ था ? शरत्पूर्णिमा का निशानाथ उसके आनन की दासता का भी अधिकारी न हो पाया।

टिप्पणी—नल के अंगों का वर्णन करते कवि ने उसके चरण, हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्म, पल्लव और शारदी पूर्णिमा के चन्द्र की हीनता प्रतिपादित की है, इस दृष्टि से यहाँ 'प्रतीप' अलंकार है, अनुप्रास की छटा भी है। साहित्यविद्याधरीकार छेकानुप्रास के साथ साकूत विशेषणों से युक्त उक्ति होने के कारण परिकर भी मानते हैं और इस प्रकार अनुप्रास-परिकर की संसृष्टि। अङ्घ्रि आदि का पद्म आदि से घृणादि का सम्बन्ध न होने पर सम्बन्ध कहे जाने के कारण जीवातुकार यहाँ अतिशयोक्ति मानते हैं ॥२०॥

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥ २१ ॥

जीवातु--किमिति । विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः लेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः तथा जगत्कृता स्रष्टा विधिनेत्यर्थः । रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषं व्याजः तस्मात् । दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्तुलरेखाः न कृताः किम् ? अपि तु कृता एवेत्यर्थः । अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः । अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्वदूषण-शून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वयः--विधिः अस्य गुणान् रोम्णां कपटेन कोटिभिः रेखाभिः न अजी-गणत् किम् ? जगत्कृता रोमकूपमिषात् दूषणशून्यबिन्दवः न कृताः किम् ? (अपि तु कृता एव) ।

हिन्दी--विधाता ने रोओं के बहाने करोड़ों रेखाओं द्वारा क्या इसके गुणों की गणना नहीं की ? अपितु गणना ही की । संसार बनानेवाले ने रोम-कूपों के व्याज से क्या दोषाभावसूचक शून्य नहीं बनाये ? अपितु बनाये ।

टिप्पणी—राजा के गुण अनन्त, असंख्य थे, सो विधाता उनकी गिनती में समर्थन हो पाया, अतः सुविधा के लिए उसने नल के शरीर में गणनासूचक रोम बना दिये और दोषों के अभाव की सूचना के निमित्त रोमकूप रूपशून्य बना दिये । यहाँ 'कपट' और 'मिष' शब्दों के प्रयोग द्वारा निषेध सूचित किया गया और अन्य सम्भावना की गयी, अतः अपह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है । यह वर्णन सामुद्रिक शास्त्रानुसारी है ॥२१॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

जीवातु—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरि-दुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽ-र्गलं न ना' इत्यमरः । दीर्घश्च पीनश्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्व-

मित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः ! उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्ग-लुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः । स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अप्रधृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः । गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति । दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता तत्र उरः श्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरः प्रसारिता ध्रुवं गृहीता ।

हिन्दी—उसके बाहुयुग्म ने शत्रुओं के दुर्गों को लुण्ठित करते अर्गलों की दीर्घता और स्थूलता और वहीं वक्ष की शोभा ने नगरद्वारों पर छिपते किवाड़ों की दृढ़ता और विशालता का मानो ग्रहण किया था ।

टिप्पणी—नल की भुजाएँ लम्बी और पुष्ट थीं—आजानुबाहु था वह, और छाती दृढ़ तथा विशाल वक्षःस्थल था, कवि ने इसी भाव का प्रतिपादन करने के निमित्त यह 'उत्प्रेक्षा' की है । साहित्यविद्याधरीकार ने यहाँ उत्प्रेक्षा और उपमा मानी हैं ॥२२॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३ ॥

जीवातु—स्वकेलीति । स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निन्दितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येः तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः । निजांशः स्वावयवः यद्दक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः । प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः । अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—स्वकेलिलेशस्मितनिन्दितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा नास्ति ।

हिन्दी—अपने क्रीडाविलास की अंशमात्र मुसकान से चन्द्रमा को जीतनेवाले या निन्दायोग्य प्रमाणित करनेवाले तथा अपने अंशनेत्र से पद्म-शोभा के जेता उसके मुख की उन दोनों (चन्द्र और पद्म) को जीत सकने वाले अन्य पदार्थ से शून्य जड़ चेतनमय संसार में और कोई उपमा नहीं थी।

टिप्पणी—नल के मुख-नेत्र के साम्य में जगत् की दो ही वस्तुएँ रखी जा सकती थीं—चन्द्र और पद्म। वे दोनों तो उनके सौन्दर्य से पराजित हो गये, अतः अन्य उपमान के अभाव में राजा नल का मुख चराचर संसार में अप्रतिम ही रहा। अनुपम, अद्वितीय मुख के चन्द्र-पद्म-विजयी होने से निरुपम कहे जाने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार माना है, किन्तु उपमानों के तिरस्कारकथन के आधार पर साहित्यविद्याधरीकार के अनुसार यहाँ प्रतीप अलंकार है ॥२३॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

जीवातु—उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः। अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

अन्वयः—तस्य दृशा एव सरोरुहं जितं स्मितेन एव विधोः श्रियः अपि जिताः, परं भव्यं कुतः ? अहो, तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता !

हिन्दी—उसके नेत्र ने ही कमल-पद्म को जीत लिया, मंदस्मित ने ही चन्द्र की शोभाएँ भी जीत लीं। इन दोनों से सुन्दर और कहाँ कुछ है ? हाय, उसके मुख की उपमा देने में (कविगण की) भारी दरिद्रता है !

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को और चमत्कारी बनाते हुए कवि ने भङ्ग्यंतर से मुख-शोभा का वर्णन किया है, मुख के उपमानस्वरूप प्रसिद्ध पद्म-चन्द्र मुखांश से ही विजित हैं, मुख की तुलना कैसे हो ?

पूर्वोक्त श्लोक की भाँति मल्लिनाथ ने यहाँ भी वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार माना है, साहित्यविद्याधरीकार ने क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल में उसकी व्यक्ति रहने के आधार पर यहाँ विभावना स्वीकारी है—'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फले व्यक्तिर्विभावना।' जो मुख श्रीजयी है, उसे दरिद्रता कैसी ? पर वह है, भले ही उपमान की दरिद्रता हो ॥२४॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्त्वयश्चमर्येव तुलाभिलाषिणः !
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

जीवातु—स्वबालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः। क्वचित्तदभावे नञ्समासे दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे–'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥ २५ ॥

अन्वयः—चमरी तदुत्तमाङ्गजैः समं तुलाभिलाषिणः स्वबालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति।

हिन्दी—सुरा गाय उस (नल) के सिर के केशों के साथ साम्य के अभिलाषी अपने केशों के निरपराध होने पर बारम्बार पूंछ हिलाने के व्याज से (स्वकेशों की) बालकोचित चपलता को व्यक्त किया करती है।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने नल के केश-सौन्दर्य का वर्णन किया है। चमरी गाय के बाल उसके केशों से समता की धृष्टता करते हैं, यह अपराध है, किन्तु शरीर सम्बन्ध से नील गाय केशों—बालों की माता तुल्य है। माता को बच्चे के अपराध अपराध नहीं लगा करता, और फिर बच्चों का अपराध उनका बालचापल्य ही माना जाता है। कवि कहता है कि सुरागाय इसी बालचापल्य की अभिव्यक्ति कर रही है निरन्तर पूंछ हिलाती, अथवा अपने बालों (बाल 'वबयोरभेदः') की चपलता के निमित्त क्षमा चाह रही है।

पुच्छविलोलन-प्रतिषेध करके बालचापल की स्थापना होने के कारण मल्लिनाथ यहाँ अपह्नुति मानते हैं, विद्याधर (साहित्यविद्याधरी के कर्त्ता) 'चापलमिव शंसति'-ऐसी कल्पना करके प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, और अपह्नुति भी।

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

जीवातु—महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्त्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

अन्वयः—तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत्।

हिन्दी—उस पृथ्वीपति की कामसमान कांति और (अतएव) उसके प्रति अपने चित्त का अभिलाष—इस प्रकार उस राजा नल में त्रिलोकी में उत्पन्न समस्त सुन्दरियों को दो प्रकार से काम का भ्रम हो गया, जिससे उनके नयन लाज से झुक गये।

टिप्पणी—राजा मदनतुल्य मनोहर था और त्रिलोकी की सुन्दरियाँ उसका अभिलाष करती थीं—कवि का यहाँ यही भाव है। यहाँ एक साथ त्रिलोक-सुन्दरियों की मुग्धता का वर्णन कर कवि ने अपने तीन श्लोकों में क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्यसुन्दरियों का विमोहन प्रतिपादित किया है। 'विभ्रम' का अर्थ भ्रम—भ्रान्ति भी है और कामजनित कटाक्षादि विलास भी—'विभ्रमो भ्रान्तिहावयोः' इति विश्वः। यह 'विभ्रम' का द्वैविध्य है, एक तो राजा के 'मन्मथश्री' होने से उसमें मन्मथ भ्रांति, दूसरा अभिलाष-जनित लज्जा अथवा विलास का सूचक भौओं का नीचा हो जाना।

मल्लिनाथ ने यहाँ श्लेषसंकीर्ण यथासंख्य अलंकार माना है, विद्याधर ने 'मन्मथश्रिया' के कारण उपमा और 'विभ्रम' के कारण श्लेष। नारायण पण्डित ने मन्मथ की व्युत्पत्ति की है—मननं मत् शास्त्राद्यभ्यासजन्यं ज्ञानं मथ्नातीति मन्मथः। मूलविभुजादित्वात्कः ॥२६॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥२७॥

जीवातु—निमीलनेति। त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषयेत्यर्थः। दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः। यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति। तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः—त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वनैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते।

हिन्दी—सुरांगनाओ ने निर्निमेष (अपलक) दृष्टि से उसके रूप का पान करके जिसका अर्जन किया था, उस निरन्तर अभ्यास को आज भी वे अपने अपलक नेत्रों से प्रकट करती हैं।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी नल के सुरांगनाविमोहक उत्कट रूप का वर्णन है। जनविश्वास है कि देवता 'अपलकदृष्टि' होते हैं, उनके पलक नहीं झपकते। कवि ने यहाँ उसके कारणविशेष की 'उत्प्रेक्षा' की है। विद्याधर ने इसी आधार पर यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानी है, वे अध्यवसाय की सिद्धि के कारण इसमें प्रतिशय भी मानते हैं ॥२७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः॥२८॥

जीवातु—अद इति। चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पत्न्यः इत्यर्थः। अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुः श्रवस्त्वादिति भावः। अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम्। न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः। तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः। अत एव अफलञ्च, इति हेतोः। तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च। अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि (अतः) फलाढ्यजीवितम्, तद् अवीक्षि च (अतः) फलम्—इति चक्षुः श्रवसां प्रियाः तत् आत्मनः हृदा स्तुवन्ति स्म, निन्दन्ति स्म च ।

हिन्दी—यह हमारा नेत्रयुग्म नल के गुणों को सुनता है, अतः इसका जीवन सफल है, इसका दर्शन नहीं पाता, इस से निष्फल है—इस प्रकार नेत्रों से ही सुन सकने की शक्तिवाले चक्षुश्रवानागों की पातालवासिनी प्रियाएँ उस अपने नेत्रयुगल की अपने मनमें प्रशंसा भी करती थीं और निन्दा भी ।

टिप्पणी—पाताल में नल के गुण ही तो विख्यात थे, वह वहाँ उपस्थित कहाँ था ? पातालवासिनी नाग प्रियाएँ उसे न देख सकने के कारण अपने नेत्रों को कोसती थीं, पर गुण-श्रवण तो उनसे ही हो पाता था; अतः एक ओर प्रशंसा, दूसरी ओर निन्दा ।

जीवातुकार मल्लिनाथ ने इसमें अतिशयोक्ति मानी है और साहित्यविद्याधरीकार विद्याधर ने गुणक्रियाविरोधालंकार । यह दस हैं—'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणास्त्रिभिः । क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।'

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

जीवातु—विलोकयन्तीभिरिति । अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं तत्र भावनायामिति भावः । निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलवोऽपिन अलम्भि न प्राप्तः । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति मुमागमः । मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्वा अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अजस्रभावनाबलाद् अमुं नेत्रनिमीलनेषु अपि विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि ।

हिन्दी—निरन्तर नल की भावना करते रहने के बल पर उसे नयन झपकने पर (मन में) भी देखती हुई मर्त्यलोकवासिनी मानवसुन्दरियों ने पलक झपकने के कारण उत्पन्न इसके दर्शन में पड़ते विघ्न का लेश भी नहीं प्राप्त किया ।

टिप्पणी—मानवसुन्दरियाँ तो नल में ऐसी रम रही थीं कि वह सम्मुख हो या न हो, भावनावश वे सदा उसका दर्शन पाती ही रहती थीं।

मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति मानी है और कारण की समग्रता में भी कार्य की अनुत्पत्ति के आधार पर विद्याधर ने विशेषोक्ति ॥२९॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ?
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ?॥३०॥

जीवातु—नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ते'त्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ ३०॥

अन्वयः—का निशि तं स्वप्नगतं न ददर्श का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद, तदात्मताध्यातधवा का च वा रते स्वमनोभवोद्भवं न चकार।

हिन्दी—कौन सुन्दरी उसे रात में सपने में मिली नहीं देखती थी और कौन नामोच्चारण में भटककर उसका नाम नहीं ले देती थी ? नल की भावना से पति का ध्यान करती किस रमणी ने सुरत-काल में अपने काम का उद्भव नहीं किया ?

टिप्पणी—प्रत्येक सुन्दरी नल का ही स्वप्न देखती थी, उसका ही नाम लेती थी और उसकी ही भावना करके अपने पति को रमण किया करती थी।

इस श्लोक में स्वप्नदर्शन, नामस्मरण और नलभावना से रमण—इन तीन प्रकारों से कवि ने मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के नलानुराग का चित्रण किया है। काकुवक्रोक्ति तो है ही, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है, क्योंकि असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-कथन है। छेकानुप्रास भी है ॥३०॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥३१॥

जीवातु—श्रियेति। तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति। धियेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः। ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः। गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कश्चरं मलदूषितमि'त्यमरः। न कृतः? अपि तु सर्वथैव कृत इत्यर्थः। सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः॥ ३१॥

अन्वयः—तम् आलोक्य 'अहं श्रिया अस्य योग्या'—इति स्वम् ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः भैमीं विहाय कया अपदर्पया सुरूपया श्वासमलीमसः न कृतः?

हिन्दी—उसे (नल को) देखकर 'मैं सौन्दर्य के कारण इसके योग्य हूँ'—ऐसा विचारते अपने मुख (अथवा सम्पूर्ण शरीर) को निहारने के लिए हाथ में लिया दर्पण भीमसुता (दमयन्ती) को छोड़कर अन्य किस गतरूपदर्पा सुन्दरी ने निःश्वास से मैला नहीं किया? सभी ने किया।

टिप्पणी—कोई सुन्दरी दर्पण में निहार कर अपने को नल के योग्य मानने का साहस न कर पायी और खिन्नता से निकली निःश्वास से हाथ का दर्पण धुंधला पड़ गया—इससे कवि का भाव यह है कि नल के अनुरूप भीमपुत्री वैदर्भी दमयन्ती ही थी, अन्य कोई सुन्दरी रूप-गुण में नल के योग्य नहीं थी। असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार व्यभिचारभाव गर्व की शान्ति॥३१॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥३२॥

जीवातु—एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—यथेति। मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः। ऊह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। अनलावरुद्धम् अग्निपरि-

वेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः। पत्तनं शोणितपुरमिति यावत्। प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः'। उषाहरणे विष्णुपुराणात्। तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्या मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन ऊह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्। वेशितः प्रवेशितः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः। पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरी चित्रलेखामवदत्। सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तया समगमयत्। कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलेश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया। अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषा सङ्करः॥ ३२॥

अन्वयः—यथा खलु भोगभोजिना वयसा ऊह्यमानः मदनः अनलावरुद्धं वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेशितः तथा (वयसा) एव विदर्भजायाः नलावरुद्धं मनः (मदनः वेशितः)।

हिन्दी—जिस प्रकार सर्पभोजी वयस्-पक्षिराज गरुड ने अपनी पीठ पर ले जाकर मदन अर्थात् (कृष्णपुत्र, अनिरुद्ध-जनक मदनावतार) प्रद्युम्न को अग्नि से समंततः घिरे वैरोचनि—(प्रह्लादसुत पातालराज) बलि के पुत्र बाणासुर के नगर (शोणितपुर) में झटिति प्रविष्ट करा दिया था, उसी प्रकार सुखासक्त वयस् अर्थात् तारुण्य ने ही वैदर्भी के नलसे व्याप्त मन में काम को प्रविष्ट कर दिया।

टिप्पणी—काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार पहिले नारी का अनुराग दिखाया जाना उचित होता है, तत्पश्चात् नर का—'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः', इस प्रकार इसमें रूप-गुण-श्रवण तथा चित्रादिदर्शन से आकृष्ट दमयन्ती के पूर्वानुराग का कवि ने वर्णन किया है। इसके लिए उसने उषा-अनिरुद्ध की पौराणिक कथा (श्रीमद्भागवत, १०।६२-६३) का उपमान

उपस्थित किया है। विद्याधर ने इस पद्य में केवल श्लेष और उपमा अलंकारों का उल्लेख किया है, यों यहाँ शब्दश्लेष, अर्थश्लेष-विशिष्टा उपमा, अध्यवसाय-मूला प्रतिशयोक्ति और अनुप्रास का संकर है। मल्लिनाथ यही मानते हैं ॥३२॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥३३॥

जीवातु—इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुः प्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्था-माह—नृप इत्यादि। सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे बहुशः। 'वह्वल्पार्थाच्छस्कारका-दन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्ययः। श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम् एकस्यैव विधेये शिव-भागवतवत् समासः। 'प्रियवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना तस्य मुम्। मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससजत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्त-दासक्तचित्तासीदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे बहुशः श्रुतिं गते तस्मिन् नृपे विशिष्य मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः दिदेश।

हिन्दी—उस राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने अपनी रूपसम्पत्ति के अनु-रूप (योग्य) बहुत बार जिसका रूप-गुण-कीर्त्तन कान में पड़ चुका था, उस राजा नल में आसक्त कर अपने मन को कामाज्ञा का ही एक मात्र वशवर्त्ती बना दिया।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती के एकानुराग का द्योतन। अनुप्रास अलंकार। श्रवणजात अनुराग, इसका ही अगले चारों श्लोकों में वर्णन है ।३३।

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

जीवातु—अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि। सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः। वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति-भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः। नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताऽ-

भूदित्यर्थः। रञ्जेर्देवादिकाल्लट्। अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः। जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः। नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः॥ ३४॥

अन्वयः—सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य तेषु भूपतीन् प्रति (प्रतिभूपतीन् वा) पठत्सु नलं शृण्वती विनिद्ररोमा अजनि रज्यते स्म (च)।

हिन्दी—वह प्रतिदिन स्तुतिपाठकों के स्तुतिपाठ के समय अपने पिता की सेवा में उपस्थित होकर उनके राजाओं (अथवा अन्य राजाओं) के सम्बन्ध में वर्णन करते होने पर नल के विषय में सुनती पुलकित हो जाती थी और इस प्रकार वह (नल में) अनुरक्त हो गयी।

टिप्पणी—यहाँ गुणश्रवण का अवसर बताया गया। विद्याधर के अनुसार यह औत्सुक्य भावोदय का उदाहरण है, सात्त्विक रोमाञ्च का वर्णन भी है॥३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥३५॥

जीवातु—कथेति। मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखाच्चलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः। अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि। 'भुवो भावे' लङ्। अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः॥ ३५॥

अन्वयः—तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् तृणेऽपि नलनामनि श्रुते अन्यत् द्रुतं विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया प्रभूयत।

हिन्दी—कोमलाङ्गी यह दमयन्ती परस्पर बातचीत के अनेक रहस्यालापों में सखियों के मुख से थोड़ा-भी नल का नाम सुनने पर अन्य (विषय) तुरन्त त्यागकर प्रसन्नतया उसके सम्बन्ध में सुनने के लिए कान लगा देती थी।

टिप्पणी—यहाँ रागातिशय दिखाया गया है। हर्ष और औत्सुक्य की 'भावशबलता' है 'तन्वी' पद विरहकृशता का द्योतक है॥३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥३६॥

जीवातु—स्मरादिति । परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचनान्निश्चलाक्षाद्देवादिति च गम्यते । उभयथापि भयहेतूक्तिः । तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' । अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्षं शृणोतीति रागातिरेकोक्तिः । 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—परासोः अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर—इति सा यूनः स्तुवता जनेन नैषधं तदास्पदे निदर्शनम् अभ्यषेचयत् ।

हिन्दी—गतप्राण (अतएव) अपलक नेत्र कामदेव से मुझे डर लगता है, उसके अतिरिक्त कोई उदाहरण दो—इस प्रकार वह किसी तरुण की प्रशंसा करती सखियों आदि से निषधराज को उस (काम) के स्थान में उपस्थापित कराती थी ।

टिप्पणी—काम देवविशेष होने के कारण अनिमेषलोचन है, किन्तु दमयन्ती उसकी अनिमेषलोचनता उसके मृत होने के कारण मानती है और मृत को देखकर स्वयं डरने का बहाना करती हुई किसी तरुण के सौन्दर्य में काम से उपमानित करने का निषेध करके अन्य उदाहरण प्रस्तुत करने का निर्देश करती है, क्योंकि वह जानती है कि सौन्दर्य में काम के अतिरिक्त समान उदाहरण नल ही है, सो स्तोताजन काम के स्थान में नल का ही नाम लेंगे ।

यह भी रागातिरेक का वर्णन है । गुणकीर्त्तन-श्रवणरूपा काम की दशा का उपपादन ॥३६॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥३७॥

जीवातु—नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य

गुणान् पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः। अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्तिकथां नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः। चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या मृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः शानजादेशः। तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट्। अयञ्च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः॥ ३७॥

अन्वयः—अनया निषधागताः दूतद्विजवन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टा, अथ तत्कीर्त्तिकथां निपीय चिराय विमनायमानया तस्थे।

हिन्दी—दमयंती निषधदेश से आये दूतों, ब्राह्मणों, स्तुति-पाठकों और चारणों से बहाने से नल के गुण पूछा करती थी, और फिर उसकी यशोगाथा को तन्मय हो सुन देरतक अनमनी बैठी रह जाया करती थी।

टिप्पणी—इस श्लोक में व्यभिचारीभाव चिंता का उदय दिखाया गया है। अनमने होने में कारण है यह चिंता कि कैसे नल से मिलन होगा? यहाँ मल्लिनाथ ने प्रलाप नामक रत्यनुभव बताया है॥३७॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥३८॥

जीवातु—प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागञ्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह-प्रियमिति। सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत्। समाहारो द्विगुरेकवचनम्। तस्य जयिनो लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म॥ ३८॥

अन्वयः—अधिलीलागृहभित्ति कौ अपि त्रिजगज्जयश्रियौ प्रिय प्रियां च लिख—इति सा कारुवरेण लेखितं नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म।

हिन्दी—क्रीडागृह की दीवार पर किन्हीं दो त्रिलोकी की शोभा में जीतने वाले युवक और युवती का चित्रण कर—इस प्रकार वह शिल्पी चित्रकार द्वारा आलेखित नल को और अपने को सहस्थित (एक साथ आँका गया) देखा करती थी।

टिप्पणी—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस श्लोक में चित्र दर्शन का निरूपण है। नल युग का श्रेष्ठ त्रिलोकजयी नर था और दमयन्ती त्रिलोकजयिनी नारी। उस युग में जैसे यह सर्वमान्य सत्य था। लीलागृहमित्तौ इति अधिलीलागृहभित्ति—अव्ययीभावसमास। अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्ध्यर्थाऽभावात्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु (अष्टाध्यायी २।१।६)-द्वारा विभक्त्यर्थ में अधि का प्रयोग ॥३८॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा ना स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावेच्वौ दीर्घः। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म ? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥३९॥

अन्वयः—स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्तिः अदृष्टम् अपि अर्थम् अदृष्टवैभवात् जनदर्शनातिथिं करोति।

हिन्दी—सोती वह दमयन्ती स्वेच्छया अपने पतिरूप में स्वीकारे नल को किस रात में नहीं देखा करती थी ? प्रत्येक रात में देखती थी। स्वप्नदशा अदेखे अर्थ को भी पुरातन भाग्य के सामर्थ्य से मनुष्यों के दर्शन का विषय (देखने योग्य) बना देती है।

टिप्पणी—दर्शन तीन प्रकार से होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वप्न में, (३) चित्र में—'साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने स्याद्दर्शनं त्रिधा।' यहाँ स्वप्नदर्शन का वर्णन है। सामान्य (प्रथम-द्वितीय-चरण-कथन) से यहाँ विशेष (तृतीय-चतुर्थ चरण की उक्ति) का समर्थन है, अतएव अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'स्वपती' के दो बार प्रयोग से यमक। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और हेतु अलंकार है ॥३९॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

जीवातु--निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौने न व्यापाररहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः । हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौयेनादर्शनमिच्छती'त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम् । अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव । तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह--कदाप्यवीक्षित इति । अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः । अस्या भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । तथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्य कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—निद्रया निमीलितात्, अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि च संगोप्य कदापि अवीक्षितः स महीपतिः अस्याः महत् रहस्यम् अदर्शि ।

हिन्दी—नीद से मुँदे दोनों नेत्रों और बाहरी इन्द्रियों कि निष्क्रियता के कारण निष्क्रिय मन से भी छिपाकर भी कभी न देखा हुआ वह पृथ्वीपति, जो इसी कारण दमयन्ती के लिए एक बड़ा रहस्य था, निद्रा ने दिखा दिया ।

अन्य प्रकार से पदच्छेद करके नारायण पण्डित ने इस श्लोक का अन्य अर्थ भी किया है । 'निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् इन्द्रियमौनमुद्रितात् अहृदः अपि बाह्य, रहस्यम्, महत्, अदर्शिसङ्गः अकदाप्यवीक्षितः मही सः पतिः स्याः ।'

हे निद्रा (अज्ञान) के कारण तिरोहित, अक्ष में वास करने वाले युग कलि से और इन्द्रिय अर्थात्, वाक्रूप व्यापाराभाव मौन ही जिसका स्वभाव है ऐसे अहृत्-मूर्ख से भिन्न अर्थात् कलिदोष से मुक्त और ज्ञानी, हे अतिगोपनीय लक्ष्मी वाले रहस्यमय (रहस्या अत्यन्तगोप्या मा लक्ष्मीर्यस्य सः), हे मान योग्य, विष्णुभक्तों के मित्र अदर्शिसंग (अं विष्णुं पश्यन्तीत्येवं शीला अदर्शिनः विष्णुभक्ताः तैः सह सङ्गो मैत्री यस्य सः), दुष्टों द्वारा अदेखे (न कम् अकं दुःखं दामयन्तीति अकदापिनः दुष्टाः तैः अदीक्षितः न दृष्टः), उत्सवप्रिय (महाः उत्सवः अस्यास्तीति मही) वह तुम (मेरे) पति होओ—(ऐसा पूर्व-श्लोक मे वर्णित स्वप्न में दृष्ट नल से दमयन्ती कहा करती थी) ।

टिप्पणी—मल्लिनाथ ने माना है कि इस श्लोक में ऐसी ध्वनि है कि निद्रा एक ऐसी दूती है, जो प्रिया को चुपचाप—सबसे छिपाकर प्रिय का दर्शन करा देती है। विद्याधर इसमें रूपक मानते हैं ॥४०॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्विभरांबभूविरे ॥ ४१ ॥

जीवातु—अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्तुपूर्त्तावपि ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिः निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत्। विभराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम्प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अहो, हिमागमे अपि स्मरार्दितां तां प्रति अहोभिः महिमा प्रपेदे, तपर्तुपूर्तौ अपि विभावरीभिः मेदसां भरा विभराम्बभूविरे।

हिन्दी—अचरज की बात थी कि हेमंत ऋतु के आजाने पर भी कामपिडिता उस (दमयन्ती) के संदर्भ में दिनों ने अतिदीर्घता प्राप्त करली थी और भरपूर ग्रीष्म ऋतु में भी रात्रियों ने प्रभूत मज्जा (स्थूलता-दीर्घता) धारण करली।

टिप्पणी—दमयन्ती को विरह में जाड़े के छोटे दिन भी बड़े प्रतीत होते थे और गर्मी की छोटी रातें भी लम्बी। विद्याधर के अनुसार हिमागम कारण होने पर भी दिनों का छोटा होना कार्य और ग्रीष्मर्तु होने पर भी रात्रि की लघुता का अनिर्देश होने से विशेषोक्ति और दिन रात की दीर्घता में स्मरार्दिता कारण होने से विभावना अलंकार है तथा छेकानुप्रास भी। चंद्रकला-व्याख्याकार ने दो विरोधाभासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण इस श्लोक में संसृष्टि अलंकार का निर्देश किया है ॥४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

जीवातु—स्वेत्यादि । अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटना-गुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्य्यपरि-हारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अशृ-णोत्, अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥४२

अन्वयः—कदाचित् नलः अपि लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनं अस्याः गुणोत्करम् अशृणोत् ।

हिन्दी—किसी समय नल ने भी लोगों के मुँह से स्व अर्थात् अपने अथवा दमयन्ती के सौंदर्यविषयक मुक्तामाल के मध्य गुंफित होने वाले सूत्र अथवा नल के अंतस्-मन में प्रविष्ट गुण अर्थात् सौंदर्यादि की श्री को प्राप्त करके तरुणों के धैर्य को विलुप्त करते उस (दमयन्ती) के गुणों (रूप, शोभाआदि) को सुना ।

टिप्पणी—गुणश्रवण से आकृष्ट नल के दमयन्ती के प्रति अनुराग का वर्णन । कीर्तिव्रज और गुणोत्कर के मुक्ताहार और गुंफन सूत्र भाव में रूपण के कारण इस श्लोक में रूपक अलंकार है ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणान-न्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्य्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवा वसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्तयेव अकुण्ठितसाम-र्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा । तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रा-न्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः । तेन रागोदय उक्तः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तम् एव अवसरं लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुम् इयेष ।

हिन्दी— दमयन्ती के रूप-गुण सुनने के अनंतर अपने शरीर की शोभा के (नल द्वारा) जय के कारण जिसमें (नल के प्रति) ईर्ष्या जाग गयी है, ऐसे कामने उसी अवसर को पाकर मानों देह-धारिणी अपनी अमोघ शक्ति के तुल्य उस (दमयन्ती) के माध्यम से निषधपति को जीतने की इच्छा की ।

टिप्पणी—नल से रूपशोभा में पराजित होनेवाले काम को दमयन्ती के माध्यम से अपनी पराजय का बदला लेने का अच्छा अवसर मिला—इस कल्पना द्वारा कवि ने नल के काम-भाव का वर्णन किया ।।४३।।

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ।। ४४ ।।

जीवातु—अकारीति । तेन क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चधैर्य्यव्ययाय उच्चधैर्य्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्ण कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ४४ ।।

अन्वयः—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः गुणः श्रवणातिथिः अकारि तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः (गुणः श्रवणातिथिः अकारि) ।

हिन्दी—उस पृथ्वपति ने राजा भीम की कन्या दमयन्ती-निष्ठ रूपादि गुण को अपने कानों का अतिथि बनाया (सुना) और काम ने भी उस (नल) के उत्कृष्ट धैर्य का नाश करने के निमित्त बाण को अपने शरासन (धनुष्) पर धर कर अपने दृढ धनुष् की प्रत्यंचा को कान तक खींच लिया ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि दमयन्ती के गुण श्रवणानंतर नल में काम संचार हो गया । 'स्वात्मशरासन' में 'स्व' और 'आत्म' पर्याय शब्दों के होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर सु + आत्म—ऐसा पदच्छेद करके सुन्दर अर्थात् दृढ़ अपना धनुष् ऐसा अर्थ करने पर पुनरुक्ति नहीं रह जाती है, इस प्रकार पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। 'अकारि' क्रिया के नल और स्मर—दोनों प्रस्तुत कर्ता हैं, अतः तुल्योगिता है; फलतः पुनरुक्तवदाभास—तुल्ययोगिता की संसृष्टि है । विद्याधर भी यहाँ ये दो अलंकार मानते हैं । मल्लिनाथ ने काव्यलिंग माना है ।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ।।४५।।

जीवातु—अमुष्येति। स स्मरः साहसी साहसकारः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः। अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शराशनज्यां निजधनुर्मौर्वीं विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप्। तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपि शब्दार्थः। वृद्धचपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः। अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ४५॥

अन्वयः—साहसी स्मरः धीरस्य अमुष्य जयाय तदा ज्यां विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि यशांसि संशये निमज्जयामास खलु।

हिन्दी—साहसशील काम ने धैर्यवान् उस (नल) के जय के निमित्त उस काल प्रत्यंचा को बाणों से सनाथ करते (धनुष की डोरी पर बाण चढ़ाते) हुए तीनों लोकों के विजय से प्राप्त भी यशः समूह को कदाचित् संशय में डाल दिया था।

टिप्पणी—नल को जीतना जोखिम का काम था। इसकी पूरी संभावना थी, त्रिलोकजयी काम को जो जगद्विजयी होने का यश प्राप्त था, वह नल पर आक्रमण करके असफल होने पर मिट जाता, अतः उसने एक नहीं, अनेक बाण (विशिखैः) डोरी पर चढ़ाये। काम का अविवेकी होना और नल का अत्यन्त धैर्यवान् होना संकेतित है। असंबंध में संबंध-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है।

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम्॥ ४६॥

जीवातु—दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति। अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरबन्ध्येच्छतया अमोघसङ्कल्पत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः। व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ्। यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्य्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्म्मणि लुङ्। दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरबन्ध्येच्छत्वं

विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्य्य-कञ्चकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अबन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि यत् पौष्पैः अनङ्गमार्गणैः तत् तादृक् अस्य धैर्यकञ्चुकम् अभेदि।

हिन्दी—इस (काम) ने भीमजा को बनाने वाले विधाता की अमोघ इच्छा के कारण वह वैसा (धैर्यनाश कार्य) कर लिया, जो कि फूलों के काम-बाणों के उस (नल) उतना दृढ़ वह धैर्यरूपी कवच विदीर्ण कर दिया।

टिप्पणी—'तत् तादृगनङ्गमार्गणैः'—पदन्यास करने का अर्थ हो जायेगा—'उस प्रकार के फूलों के कोमल बाणों से'। 'अनङ्ग' शब्द के प्रयोग से यह भी संकेतित होता है कि दुःसाहसी होने पर भी डर कर काम अप्रत्यक्षतः आघात कर रहा था। यह भी भाव निकलता है कि विधाता की इच्छा से असंभव भी संभव है, कि नल का दृढ़ धैर्य भी अदेही के कोमल बाणों से विदीर्ण हो गया। दृढ़ का विदीर्ण हो जाना असंभव है, यह विरोध है जो विधि की 'अबन्ध्येच्छता' से सम्पादित हो गया अतः विरोधाभास और 'धैर्यकञ्चुक में रूपक' इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास-रूपक का अगांगिभाव संकर है। विद्याधर अनुमान और विरोध अलंकार मानते हैं ॥४६॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः॥ ७॥

जीवातु—अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति। किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः। सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम्। पितामहतार्पिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति'वैजयन्ती। लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्था-

पत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्रवस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्य-न्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' इति लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्यु-पमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः। एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्का इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति।

अन्वयः—अहो, अन्यत् किम्, यदस्त्रतापितः पितामहः अद्य अपि वारिजम् आश्रयति। शङ्के सः नलः स्मरम् आत्मनः तनुच्छायतया लङ्घितुम् न शशाक।

हिन्दी—अरे, और क्या कहा जाय, काम के बाणों से सताये बूढ़े बाबा ब्रह्मा जी आज भी जलज–कमल का आश्रय लिये रहते हैं। ऐसा लगता है कि वह नल काम के स्वदेह साम्य अथवा देह की परछाई होने के कारण उसे न जीत सका।

टिप्पणी—कामतप्त–काम के सताये बूढ़े ब्रह्मा का भी जलजात कमल में आश्रय लिए रहना यह द्योतित करता है कि काम तो सब को ही सताया करता है, सो नल को भी सता सका। एक दूसरी संभावना भी है कि नल काम को अपनी छाया समझ बैठा और धोखा खा बैठा।

'जब पितामह भी काम जय में अशक्त रहे, तो नल की क्या गिनती—' यह अर्थापत्ति होने से अर्थापत्ति अलंकार हुआ; 'तनुच्छायतया'—तनुच्छाया के तुल्य, यह उपमा हुई, अतिशयोक्ति भी है, तनुछायता हेतु है, अतः हेतु-त्प्रेक्षा भी, जो 'शङ्के' से प्रतीत होती है, अतः अर्थापत्ति-उपमा-अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और श्लेष अलंकार है।

'तनुच्छायतया' का तन्वी छाया यस्य भावस्तत्ता तया विग्रह करके यह अर्थ भी होता है--विरह-व्यथित होने से म्लान-शोभा होने के कारण, अन्य-मनस्क नल काम को न जीत सका ॥४७॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

जीवातु--उरोभुवेति। सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्'

वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुग्मेन कुचयुगाख्येनेति भावः, इत्यतिशयोक्तिः। 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोतिमूलेक्ति सङ्करः। दमयन्ती-कुचकुम्भविश्रयश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सा तन्वी त्रपासरिद्दुर्गम् अपि प्रतीर्य यत् नलस्य हृदयं विवेश, (तत्) वयस्कृतेन नवोपहारेण कुम्भयुगेन जृम्भितं किम्?

हिन्दी—वह कृशांगी (दमयन्ती) लज्जारूपी नदी में दुर्ग (प्रतिरोध) अथवा लज्जानदी रूपी दुर्ग को भी तर कर जो नल के हृदय में प्रविष्ट हो सकी, वह क्या तारुण्य-प्रस्तुत नूतन उपहार कुंभयुग (दो घड़े और कुचयुगल) द्वारा हो सका?

टिप्पणी—'प्रकाश'-कार नारायण ने 'नवोपहारेण' का 'नव' नूतन उप-समीपमतो हारो मुक्ताहारो यस्य उपायनं तद्रूपेण' विग्रह में किया है। इस प्रकार अर्थ हुआ 'नवीन मुक्ताहार रूपधारी उपहार से युक्त कुचकलश।' उन्होंने 'अत्युच्च' अर्थ मानकर 'जृम्भितं' को 'दुर्ग' का विशेषण भी माना है।

प्रणयिजन तारुण्यमद में घड़ों की सहायता से मिलन के निमित्त दुर्गम नदी तैर जाया करते हैं। अनेक प्रणय-कथाओं में नर-नारी के ऐसे साहस का वृत्तांत मिलता है। पंजाबी की लोक-प्रसिद्ध प्रणयकथा 'सोनीमहीवाल' की नायिका 'सोनी' भी अपने प्रणयी 'महिवाल' से मिलने इसी प्रकार जाया करती थी। श्रीहर्ष ने यहाँ भी ऐसी ही कल्पना की है, जिससे नल-दमयन्ती की प्रणयोत्कटता प्रकट होती है। यह सब 'यौवन' की ही कृपा है, 'कुचयुगल' भी 'वयः कृत'—यौवन के उपहार हैं।

विद्याधर ने इसमें उत्प्रेक्षा, रूपक और श्लेश अलंकार माने हैं। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति का संकर माना है ॥४८॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला॥४९॥

जीवातु—अथास्य जागरावस्थामाह–अपह्नुवानस्येति। निजामधीरतां चपलत्वं अनायापह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थेति' त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप्। शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि। 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्विणादेशः। तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः॥ ४९॥

अन्वयः—निजाम् अधीरतां अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशांककोमला निशा शय्या च अबोधि।

हिन्दी—अपनी अधीरता को छिपाते इस (नल) की मनोभव काम ने जो दुर्दशा की, उसे जागरण के कष्ट की गवाह चंद्र से मनोहर चाँदनीरात और खरहे के अंक के समान मुलायम अथवा चंद्रतुल्य धवल आवरण से युक्त अथवा चंद्र अर्थात् कपूर छिड़क कर शीतल बनायी गयी शय्या ही जान पायी।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल का उत्कट विरह और लज्जाशीलता द्योतित है। उसके मन की पीर को रात और शय्या के अतिरिक्त कोई न जान सका। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इसमें श्लेष है और 'चंद्रकला' के अनुसार तुल्ययोगिता और उपमा॥४९॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत!
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्॥५०॥

जीवातु–ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह–स्मरेत्यादि भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतितनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता। तथाहि-मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महोपाध्यायवर्द्धमानः। किन्तु, एकमद्वितीयकयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याच्ञाया दुःखमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ५०॥

अन्वयः—भृशं स्मरोपतप्तः अपि सः प्रभुः विदर्भराजं तनयां न अयाचत, मानिनः असून् शर्म च त्यजन्ति, एवम् अयाचितव्रतं न त्यजन्ति ।

हिन्दी—अत्यन्त काम सन्तप्त होने पर भी उस सर्वसमर्थ राजा नल ने विदर्भनरेश से उनकी पुत्री (दमयन्ती) की याचना नहीं की । आत्माभिमानी पुरुष प्राणों को और सुख को तज सकते हैं, किन्तु एक अयाचना (किसी से कुछ न माँगना) रूपी व्रत को नहीं छोड़ सकते ।

टिप्पणी—सम्मानी कष्ट सह लेते हैं, पर किसी से कुछ माँगते नहीं, नल भी ऐसे ही मानी थे—प्रभु । सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार ॥५०॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

जीवातु—मृषेति । अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वास-ततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्या-दुःखस्याभिनयात् छलेन, जुगोप संववार । तथा पाण्डुतां विशदतां शरीर-पाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनादधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुते स्म । अत्राङ्गताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनाल-ङ्कारः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम् ।' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अयं क्वचित् मृषाविषादाभिनयात् वियोगजां निःश्वासततिं जुगोप, विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् च पाण्डुताम् अपललाप ।

हिन्दी—उस राजा नल ने कभी झूठे खेद-प्रकाशन का अभिनय करके (किसी और विषय पर खेद प्रकट करने के बहाने) वियोग के कारण संजात लम्बी साँसों को छिपाया और लेप (अंगराग) में कपूर की अधिकता को कारण बता कर वियोगजनित पाण्डुता को छिपाया ।

टिप्पणी—राजा की लज्जाशीलता और विरहदशा का वर्णन, पाण्डुता को लेप से छिपाना आदि होने से मल्लिनाथ ने यहाँ 'मीलन' अलंकार का

निर्देश किया है और छद्म से भिन्न वस्तु के रूप-निगूहन के आधार पर विद्याधर ने व्याजोक्ति ॥५१॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

जीवातु—शशाकेति । अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे बभाण, वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठञ् । आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्ति गतास्वित्यर्थः । 'राग-व्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु 'आरोहावरोहणेषु क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशय-विवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थः । 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिताः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—यत् अयम् अलीकवीक्षितां प्रियां बभाषे, यत् च वैणिकैः पंचम-मूर्च्छनासु आलपितासु समाजे एव मुमूर्च्छ तत् अनेन निह्नोतुं शशाक ।

हिन्दी—जो कि नल ने भ्रान्ति से मिथ्या परिलक्षित प्रिया दमयन्ती के प्रति कुछ कहा और वेणुवादकों द्वारा पंचम स्वर की मूर्च्छनाओं में आलाप लिये जाने पर जो समाज-सभा में वे मूर्च्छित हुए, वे इसे (इसी कारण उस अलपित और मूर्च्छित हो जाने की वास्तविकता को) छिपाने में समर्थ हुए ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'शशाकनिह्नोतुमयेन' पाठ भी है, 'अयेन निह्नोतुं शशाक'—ऐसा पदच्छेद करने पर अर्थ हुआ कि नल का अपलपित सभा-मध्य मूर्छनालाप सुनने से 'अयेन'—भाग्य से बच गया । यह समझा गया कि वे रागालाप से मूर्छित हो गये हैं; अथवा सभ्यगण ही रागालाप के संमोहन में आ गये और वे नल का अपलापित न सुन सके । यह सब दैववश ही हो पाया । षड्जादि सप्तस्वरों के क्रम से आरोह अवरोह मूर्च्छना कहे जाते हैं (शार्ङ्गदेव, संगीतरत्नाकर, स्वराध्याय) । भरतकोष (पंडितमण्डली) के अनुसार 'मूर्च्छ' धातु सु ल्युट् प्रत्यय होकर करणार्थ में मूर्छना शब्द की निष्पत्ति

होती है—जिसका अर्थ है मोह और उच्छ्राय अर्थात् उभरना। भरत (नाट्यशास्त्र २८।३२) के अनुसार 'क्रमयुक्त सप्तस्वर' मूर्च्छना है। तुम्बुरु 'श्रुति (नाद के श्रुतिगोचर होना) के मार्दव' को मूर्च्छना मानते हैं। श्रुति का मार्दव—उतरी हुई अवस्था कोहल (भरतकोष) के अनुसार अमृतसरोवर में गायक और श्रोताओं के मन का मज्जन मूर्च्छना है। (यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है।) नान्यदेव (भरतकोष) का कथन है कि जिस स्वर से उच्छ्राय आरोह होता है, उसी स्वर से जब समाप्ति भी होती है, तब मूर्च्छना होती है। जैसे षड्ज ग्राम प्रथम मूर्च्छना—'सा रे ग म प ध नि सा।' सामान्यतया किन्हीं सात स्वरों का उतार-चढ़ाव मूर्च्छना है। 'प्रकाश'—कार ने मूर्च्छनाओं की संख्या इक्कीस बतायी है। 'नाट्यशास्त्र' (२८।३१) में स्वर-क्रमयुक्त सम्पूर्ण षाडवी, औडुवीकृता और स्वर-साधारणीकृता मूर्च्छनाएँ चौदह बतायी गयी हैं। 'आलापित' कहते हैं राग के प्रकटीकरण को।

'अयेन' का खण्ड (अये + न) करके 'प्रकाश'कार ने यह भी अर्थ किया है कि नल सभाजनों से तो वास्तविकता छिपा सके 'इ'—काम (इः कामः तस्मै अये) से नहीं। इस पद्य में नल का लज्जात्याग, उन्माद और मूर्च्छा सूचित हैं। छेकानुप्रास अलंकार ॥५२॥

अवाप सापत्रतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥५३॥

जीवातु—अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्त्तितस्थितिः सः भूपतिः तत्र असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सापत्रताम् अवाप।

हिन्दी—जितेन्द्रियों में अग्रगण्य (जिसका कथन सर्वप्रथम हो) वह भूमिपति सभा के बीच असंवरणीय (रोका जा सकने वाला) शंबरासुर के शत्रु-

काम का विक्रम (विकार) क्रमशः प्रकट हो जाने से लज्जायुक्त हो गया। प्रथम चरण में 'पकार' की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है, पूर्वार्द्ध में अन्त्य और उत्तरार्द्ध में 'व, र' और 'क्रम' की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। इन तीनों अनुप्रासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण संसृष्टि ॥५३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥५४॥

जीवातु—ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम् ? इत्यत आह—अलमिति। युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम्। अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि—स्मरः कामः। जनमिति शेषः। जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं-सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः। इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव इदृशः। 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च'। 'अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः। अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अमी विवेकप्रभवा गुणाः नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल, अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः यत् स्मरः रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति।

हिन्दी—ये विवेक से समुद्भूत ('विवेकप्रमुखाः' पाठान्तर में विवेकादि) गुण नल की चपलता का अवरोध-निवारण करने में समर्थ न हो पाये, यह ऐसी संसार की प्रकृति—स्वभाव है कि काम (अवस्थाविशेष होने पर मनुष्य को) प्रणय में स्वच्छंद बना ही देता है।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि तारुण्य में काम सभी को चंचल बनाकर प्रणय में स्वच्छन्द बना देता है। स्मर, रति, अनिरुद्ध-शब्दों के प्रयोग से कवि पौराणिक कथा का भी संकेत देता है-कामावतार कृष्णतनय प्रद्युम्न अपनी रति-अवतारिणी प्रिया में अनिरुद्ध नामक पुत्र को ही उत्पन्न करता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने इसमें उत्प्रेक्षा और हेतु अलङ्कार माने हैं ॥५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

जीवातु—अथास्य मनोरथसिद्धचौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति–अनङ्गेति। स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहरणव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः । एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥

अन्वयः—यत्नवान् अपि सः यदा अनङ्गचिह्नं विना संसदि क्षणम् आसितुं नो शशाक तदा आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष ।

हिन्दी—प्रयत्नशील होकर भी वह (नल) जब कामचिह्नों के विना अप्रकट रहते संसद् में क्षण भर भी बैठने में असमर्थ रहा, तब उद्यान विहार के बहाने निर्जन स्थान का सेवन करना चाहने लगा ।

टिप्पणी—संचारिभाव चपलता और भ्रम अनुभाव का वर्णन । विद्याधर के अनुसार अपह्नुति अलङ्कार । शब्दालङ्कार वृत्त्यनुप्रास ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः !
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

जीवातु—अथेति । अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्निग्धो वयस्यः सवया' इत्यमरः । तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किलेत्यलीके । निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपे' त्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकंठं वनम् ईक्षिता यानाय निदेशकारिणः आदिदेश ।

हिन्दी—तदनन्तर अपनी शोभा से मीनध्वज काम को तिरस्कृत करनेवाले नल ने अपने रहस्य के वेत्ता तुल्यवयस्क मित्रों के साथ नगर के निकटवर्त्ती उपवन को देखने की इच्छा जताते हुए वाहन लाने के लिए आज्ञापालक सेवक को आदेश दिया ।

टिप्पणी—'भर्त्सितमत्स्यकेतनः' से यह भी ध्वनित है कि काम नल की शोभा बढ़ाने का काम करनेवाला कर्मचारी हुआ, इस प्रकार नल के कामचिह्न-युक्त अंग भी उसके कामजयी होने का प्रमाण देने लगे। विद्याधर के अनुसार इसमें उपमा और सहोक्ति है ॥५६॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि माने च पौरुषाधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

जीवातु—अमी इति। तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलङ्कृतञ्जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः। 'पुरुषहस्तिभ्यामण् चे' त्यण्प्रत्ययः। अजस्रचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः। एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरञ्चानिन्युरित्यर्थः ॥५७॥

अन्वयः—ततः अमी तस्य विभूषितं सितं जने अपि माने अपि च पौरुषाधिकार अजस्रचंचलैः खुरांचलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरन्।

हिन्दी—तत्पश्चात् ये निदेशकारी उस (नल) के सुसज्जित, श्वेतरंग के वेग में भी और परिमाण (ऊँचाई) में भी पुरुष-प्रमाण अथवा बल में अधिक निरन्तर चंचल खुरों की अँगली कोरों से मंदुरा (घुड़साल) के मध्य को विदीर्ण करनेवाले अश्व को ले आये।

टिप्पणी—इस श्लोक से अगले सात श्लोकों तक अश्व का वर्णन है, जिस पर नल सवार हुए—'कुलक' अर्थात् एक ही भाव से संबद्ध पञ्चाधिक पद्य। वृत्यनुप्रास और छेकानुप्रास की संसृष्टि ॥५७॥

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः।
निगालगाद् देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

जीवातु—अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि। अथानयनान्तरं स नलो हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः। कथंभूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठभाजा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः। देवमणिः आवर्त्तविशेषः

'निगालजो देवमणिरि'ति लक्षणात्। दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युप्रेक्षा। निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा। केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अथ निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः निगालगात् देवमणेः आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना उत्थितैः इव केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (तं हयम् आरुरोह—इति (६४) चतुष्षष्टितमेन श्लोकेन अन्वयः)।

हिन्दी—तत्पश्चात् निशानाथ (चंद्र) की किरणों की सहजात (चन्द्र-किरणों-सी शुभ्र, उज्ज्वल), गल प्रदेश में स्थित देवमणि (घड़ी के काँटे की भाँति दाहिनी ओर घूमी—दक्षिणावर्त,—शुभ, घोड़ों की गरदन पर होने वाली बालों की भँवरी) से अवटु अर्थात् गर्दन के पीछले भाग तक के आंतर अर्थात् मध्य से जानेवाले मार्ग से उद्भूत जैसी, कंधे पर फैले बालों की किरणों से सुशोभित घोड़े पर नल आरूढ़ हो गये।

टिप्पणी—चौसठवें श्लोक तक अश्व का वर्णन है, जिसमें 'घोड़े पर आरूढ़ हो गये—इस वाक्य तक अन्वय होता है। शुभ्रता के कारण केसर-रश्मियों की तुलना चंद्रकिरणों से की गयी है। 'देवमणि' चंद्र को भी कहा जाता है, इस प्रकार 'देवमणेः उत्थितम्' का सादृश्य भी बैठ जाता है। 'प्रकाश-कारने 'विराजितं' का अर्थ किया है 'पक्षिराज गरुड़ के तुल्य वेगवान्'—'वीनां पक्षिणां राजा विराजो गरुडः तद्वदाचरितम्।' विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक का संकर है। 'चंद्रकला' कर्त्ता ने उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपक की संसृष्टि का निर्देश किया है। मल्लिनाथ ने भी उत्प्रेक्षा-उपमा-रूपक अलङ्कार माने हैं॥५८॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेताभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ ५९ ॥

जीवातु—अजस्रेति। अजस्रेण भूमीतटकुट्टेन उद्गतैः रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा। चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः॥ ५९ ॥

अन्वयः—रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः चरणेषु उपास्यमानम् इव·····।

हिन्दी—वेग की प्रकृष्टता—आधिक्य को सीखने आये, परिमाण में अणु के समान लोगों के चित्तों के तुल्य निरन्तर भूमितल के कूटने से उड़ी धूलि से उपासित (युक्त और पूजित) घोड़े पर·····।

टिप्पणी—अश्व के वेग और स्वभाव का वर्णन। रेणु की तुलना अध्ययन करने आये मन से करना द्योतित करना है कि अश्व 'मनोजव' ही नहीं था, मन से कहीं अधिक वेगवान् था, उसी कारण धूलि-कणरूप में जन-मन अश्व के चरणों पर संलग्न ही नहीं थे, शिष्यों के सदृश चरणोपासना कर रहे थे। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और जाति अलंकार माने हैं। चंद्रकलाकार ने समासोक्ति-उत्प्रेक्षा का 'एकाश्रयानुप्रवेशसंकर' माना है ॥५९॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम्।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं ह्यस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

जीवातु—चलाचलेति। पुनः चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया 'चरिचलिपदीनामुपसंख्याना'च्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च। 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि'त्यमरः। महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा। अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते—अलमिति। गिरा उक्त्या अलं, कुतः, अयं नलः स्वयं ह्यस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति किल। 'विदो लटो वे'ति णलादेशः। इति हेतोरित्येनुषङ्गः मौनं तूष्णीम्भावञ्चास्थितं प्राप्तम्। अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः॥ ६० ॥

अन्वयः—चलाचलप्रोथतया स्ववेगदर्पान् महीभृते वक्तुम् उत्सुकम् इव, अयं स्वयं ह्यस्य आशयं वेद किल—इति गिरा अलम् आस्थितम्····।

हिन्दी—अत्यंत चंचल नासापुट ओष्ठाग्रभाग से युक्त होने के कारण अपने वेगाभिमान के विषय में मानो राजा से निवेदन करने को उत्सुक परंतु यह (राजा) स्वयं घोटक के आशय को समझता है—सो वाणी को विश्राम दिये—मौन घोड़े पर····।

टिप्पणी—'चलाचलप्रोथता' अश्व का स्वभाव है, इसी आधार पर यह उत्प्रेक्षा है। राजा हयाशय को समझता है—यह उक्ति नल के अश्वविद्या-विशारद होने को संकेतित करती है। विद्याधर ने इस श्लोक में सापह्नवा-उत्प्रेक्षा बतायी है। चंद्रकलाकार ने पूर्वार्द्ध में वाच्या और उत्तरार्द्ध में प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का निर्देश कर दोनों की निरपेक्षस्थिति के आधार पर संसृष्टि अलंकार माना है ॥६०॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम्।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

जीवातु—महारथस्येति। महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य। 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्धचेत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः।' इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः। अत्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। सागरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः ॥' इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः। अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच्, परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोर्यशः सितं कीर्त्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम्। 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः। रवेरर्वतामश्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः। अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात्। 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः ॥६१॥

अन्वयः—महारथस्य चक्रवर्त्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनात् यशःसितं रदावदातांशुमिषात् अनीदृशां रवेः अर्वतां बलम् अन्तः हसन्तम्.... ।

हिन्दी—महान् योद्धा, चक्रवर्ती राजा नल को मार्ग में अन्य अश्वों के अपेक्षा न करके उद्वहन (चढ़ाने) के कारण प्राप्त यश से मानो शुभ्र, श्वेत दाँतों की किरणों के व्याज से अन्य की अपेक्षा विना—अकेले ढोने में असमर्थ सूर्य के घोड़े के बल पर मन-ही-मन हँसते.... ।

टिप्पणी—सूर्य के सात घोड़े मिलकर सूर्य का उद्वहन करते हैं और राजा नल का घोड़ा अकेला सूर्य से भी अधिक प्रतापी नल को चढ़ा ले जाता

है। इस प्रकार यह उन सातों से श्रेष्ठ है और उन पर हँसने का अधिकारी है। घोड़ा सफेद रंग का है, जो मानो उसे प्राप्त यश की शुभ्रता है, सूर्याश्वों का रंग नीला कहा जाता है, यह मानो उनकी अकीर्ति का द्योतन करता है। महारथ का अर्थ महान् रथ वाला भी है। यों महारथ उसे कहते हैं, जो दश-सहस्र धनुर्धारियों से अकेला लड़ सके और शस्त्र-शास्त्र प्रवीण हो। जो पुरुष अपने सारथि और रथ की रक्षा करता हुआ युद्ध कर सके, वह भी महारथ कहा जाता है। विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अपह्नुति-व्यतिरेक-श्लेष का संकर है, मल्लिनाथ सापह्नवा उत्प्रेक्षा मानते हैं। भविष्योत्तरपुराण-आदित्य-स्तोत्र के अनुसार सूर्य के सात घोड़े हैं—(१) जय, (२) अजय, (३) विजय, (४) जितप्राण, (५) जितश्रम, (६) मनोजव और (७) जित-क्रोध—'जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः। मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्तकीर्तिताः ॥६१॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।
स्फुटाश्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

जीवातु—सितेति। पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चल-तामुपेयुषा चञ्चलस्येत्यर्थः। पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण च्छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव। अश्वामिनः कथञ्चा-मरयुग्ममिति भावः। पूर्ववदलङ्कारः॥ ६२॥

अन्वयः—सितत्विषः चंचलताम् उपेयुषः पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः निजवाजिराजतां स्फुटम् अनिह्नुवानम्"""।

हिन्दी—श्वेत दीप्तियुता, चंचलता को प्राप्त (चंचल) पूँछ और केसर (अयाल, गरदन के बाल) के व्याज से डोलते चामर-युगल-(राजोपयुक्त)-चिह्नों द्वारा जैसे अपना अश्वराज होना स्पष्टतया प्रकट करते"""।

टिप्पणी—पुच्छ और केसर दो राजाओं के चिह्न हैं—छत्र और चामर राजा धारण करते हैं—इन दो चिह्नों के लिए 'चिह्नैः' बहुवचन 'चलनक्रिया-पेक्षया' है—यह 'प्रकाश'कार की मान्यता है। विद्याधर और मल्लिनाथ इस

श्लोक में सापह्नवा उत्प्रेक्षा मानते हैं, चंद्रकलाकार ने इसे अपह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि कहा है ॥६२॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

जीवातु—अपीति। पुनः कथम्भूतं स्थितम्? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव विजितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गू रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः। द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्वितामुपेयिवांसं प्राप्तम्। तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम्। 'उपेयिवाननाश्वान-नूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम् ····।

हिन्दी—वेग के दर्प में बलात् विजित पक्षिराज गरुड के द्विजिह्वसर्पों के भक्षणरूप पुरुषार्थ में भी मुँह में लम्बी और शोभामयी लगाम लगी होने से (गरुड की) प्रतिभटता को प्राप्त होते ···।

टिप्पणी—नल की सवारी का घोड़ा गरुड़ क्या, मन से भी अधिक वेगवान् था; गति में तो उसने पक्षिराज को जीता ही था, इस पद्य में 'सर्पभक्षण-पौरुष' में उसे जीता द्योतित किया गया। मुखलग्ना वल्गा ही भक्षण किये जाते सर्प की प्रतिमान है। विद्याधर ने यहाँ पूर्ववत् सापह्नवा-उत्प्रेक्षा ही मानी है, मल्लिनाथ ने गम्या उत्प्रेक्षा और चंद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा की संसृष्टि ॥६३॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

जीवातु—स इति। जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत्। क्षितीपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः। शीतमहःसहोदरं चन्द्र-

सवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः। उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तं हयमारुरोह। अत्रोच्चैःश्रवसः श्रिय हरन्तमिवेत्युपमा। सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—जिताखिलक्षमाभृत् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः सः सिन्धुजं शीतमहः सहोदरम् उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयम् आरुरोह।

हिन्दी—समस्त क्षमा (पृथ्वी) को धारण करनेवाले पर्वतों के जयी-सहस्रनेत्रधारी (इंद्र के समान) समस्त राजाओं का विजेता, विशालनेत्रधारी पृथ्वीमंडल पर पाकशास्त्र का प्रणेता होने से क्षितिपाकशासन अर्थात् धरती का इन्द्र वह राजा नल सिन्धु अर्थात् समुद्र से उत्पन्न और (अतएव) चन्द्र के सहोदर उच्चैःश्रवा (इन्द्राश्व) की तुलना करते (अथवा उससे भी श्रेष्ठ) सिंधु देश के चन्द्रमा के समान शुभ्र अश्व पर आरूढ हुआ।

टिप्पणी—समान धर्मता के आधार पर नल को क्षितिपाकशासन अर्थात् महीमहेन्द्र और उसकी सवारी के अश्व को उच्चैःश्रवा की समता में रखा गया। 'सिंधुजम्' शब्द अश्व के उत्तम कुल, बल और महाकायत्व का द्योतक है। सत्तावनवें श्लोक से आरब्ध 'कुलक' समाप्त। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, परिक और श्लेष अलङ्कार हैं, मल्लिनाथ ने श्लिष्टविशेषण होने के कारण संकीर्णा उपमा और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, चंद्रकलाकार यहाँ श्लेष-उपमा-निदर्शना की संसृष्टि मानते हैं ॥६४॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

जीवातु—निजा इति। निजा आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारः भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रम्ये'त्यादिना युच्। तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीश राजानञ्च त नलं तिग्मदीधितौ सूर्य्ये मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन्। यातेर्लङि झेर्जुसादेशः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—प्रकाशरूपाः निजाः मयूखाः इव अश्ववाराः स्फुटारविन्दाङ्कित-पाणिपङ्कजं जवनाश्वयायिनं तीक्ष्णदीधितम् इव तं मनुजेशम् अन्वयुः ।

हिन्दी—प्रकाश-उजियाला ही जिनका रूप-आकार है, ऐसी स्वर्णीय किरणों के तुल्य सुन्दर शरीरधारी स्वकीय राजा के निजी अश्ववार—घोड़ों के रखवारे करकमल में खिला कमल धारते, वेगवान् अश्वों से यात्रा करते तीव्र किरणमाली सूर्य के समान जिसके करकमल में खिले कमल का चिह्न है और वेगवान् अश्वपर सवार है, उस नरनाथ नल के पीछे-पीछे चले ।

टिप्पणी—इस पद्य में नल की सूर्य से और उसके पीछे चलते अश्ववारों की सूर्यानुयायिनी किरणों से तुलना की गयी है । समुचित शब्दों के प्रयोग द्वारा इस साम्य की संरचना की गयी है, इसी आधार पर विद्याधर ने इस पद्य में उपमा, रूपक और श्लेष अलङ्कार माने हैं, चंद्रकलाकार ने इसे पूर्णोपमा कहा है ॥६५॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

जीवातु चलन्निति । वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च पेशल' इत्यमरः । स नलो महारथमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः । प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्त-निश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः । नगरालयैर्नगर निवासिभिरित्यर्थः । लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—प्रमोदनिःस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः महारयं हयम् अलङ्कृत्य चलन् वाहवाहोचितवेषपेशलः सः नलः व्यलोकि ।

हिन्दी—प्रहर्ष के कारण अपलकलोचन (पलक झपाये विना) नगरवासी प्रजाजनों ने महावेगवान् अश्व को सुशोभित कर जाते हुए अश्वारोहियों के योग्य वेष में सुन्दर लगते उस नल को देखा ।

टिप्पणी—नल के अश्वारूढ होकर जाते समय उसकी तेजस्विता पर मुग्ध नगरवासियों का सानन्द अपलक देखना वर्णित कर कवि ने राजा के प्रति पुरवासी प्रजाजनों का आदर व्यक्त किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास है और मल्लिनाथ के अनुसार वृत्त्यनुप्रास ॥६६॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥६७॥

जीवातु—क्षणादिति । अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः । प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति-क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान एवेत्यर्थः । बहिः पुरः पुरादवहिः स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुरादबहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अथ क्षणदापतिप्रभः पुरुहूतपौरुषः एषः प्रभंजनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत् ॥

हिन्दी—तदनन्तर निशानाथ चन्द्रमा की कांतिवाला, इन्द्रसम सामर्थ्यवान् वह नल आँधी भी जिससे तीव्रगामिता का अध्ययन करती थी, ऐसे तीव्रगामी अश्व पर आरूढ उन (अपलक निहारती) पुरजनों के दृष्टिपातों के साथ ही नगर से बाहर हो गया ।

टिप्पणी—राजा के शीतल सौन्दर्य और सामर्थ्य और प्रजाजन का उसके प्रति अनुराग यहाँ द्योतित है, दृष्टिपातों का राजा के साथ ही बाहर चला जाना, जिसे व्यक्त करता है । विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास उपमा-सहोक्ति के संकर का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने वेगातिशयोक्ति का, चन्द्रकलाकार उपमा-अतिशयोक्ति की संसृष्टि मानते हैं ॥६७॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥६८॥

जीवातु—तत इति । ततः पुरादवहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः । परस्परमन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः । नलस्य नासीरगते सेनाग्रवर्त्तिनी 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यमरः । सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः । वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायो घनं संख्यमि'त्यमरः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—ततः 'प्रतीच्छ, प्रहर'—इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य नासीरगते सादिबले कुतूहलात् मृषा मृधं वितेनतुः।

हिन्दी—पुर से बाहर निकलने के पश्चात् 'मेरा शस्त्र सँभालो, प्रहार करो, ऐसा कहती अन्योन्य पर पल्लव तुल्य शस्त्रों को उठाती (किन्तु आघात न करती नल की अग्रभाग में चलती दो अश्व सेनाओं ने केवल कुतूहल के लिए झूठे युद्ध का प्रदर्शन किया ॥६८॥

टिप्पणी—सैनिकों के उत्साह का वर्णन। अनुप्रास और उपमा।

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥६९॥

जीवातु—प्रयातुमिति। इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः। अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः। तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः। इतीवेति। इतीव इति मत्वेत्यर्थः। इति नैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात्। क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा। निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः॥ ६९॥

अन्वयः—इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत् पदम्, तत् पयोधिः अपि स्थलायताम्—इति इव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम्।

हिन्दी—'यह धरती हमारे संचरण के लिए कितने पग है ? (छोटी है), सो उस पयोधि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय'—मानो यही सोच कर अपनी गति के दर्प में चूर्ण घोड़ों ने समुद्र को भी पाटने में पर्याप्त (प्रभूत) धूल उड़ा दी।

टिप्पणी—बहुत से घोड़ों के एक साथ सरपट दौड़ने से उठी धूल और घोड़ों के उत्साह का चित्रण। क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा, अनुप्रास ॥६९॥

हरेर्यदक्रामि पदैकेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि यस्य नः।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥७०॥

जीवातु—हरेरिति। यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चर-

णोऽस्त्रियामि'त्यमरः। 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः। अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः। हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वि'त्यमरः। उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः। गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः। अत एव गम्योत्प्रेक्षा। नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धं नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्त्ति निवर्त्तितम्, भावे लुङ्। यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः। एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलंघनस्य सम्भवादिति भावः॥ ७०॥

अन्वयः—यत् स्वं हरेः एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुर्भिः पदैः अपि क्रमणे नः हरिणां त्रपा—इति नम्रिताननैः अर्द्धनभःकृतक्रमैः तैः न्यवर्ति।

हिन्दी—जिस आकाश का हरि (वामनावतार विष्णु) ने एक चरण से ही क्रमण—लंघन कर लिया था, उसका लंघन चार पैरों से भी करने में हम बहुत-से हरियों (घोड़ों) के लिये लज्जा की बात है—इसी से नीचे को मुँह करके आधे गगन के प्रति पदक्षेप करने वे घोड़े मानों लौट आये।

टिप्पणी—'हरि' शब्द के चमत्कारी प्रयोग के आधार पर सुंदर कल्पना। मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और श्लेष॥७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धनयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि॥ ७१॥

जीवातु—चमूचरा इति। तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चोष्टच्, सिन्धुदेशभवाः सैन्धवाः अश्वाः, 'हयसैन्धवसप्तय' इत्यमरः। 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्ययः, तत्सम्बंधिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यणा ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थो योऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः। अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽवाप्तिसमुच्चयार्थः। अन्यत्र मण्डली

मण्डलासनमित्यर्थः। 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य चमूचराः सैन्धवाः सादिनः जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव तं विहारदेशम् अवाप्य भूरि तुरङ्गमान् अपि मण्डलीम् अकारयन्।

हिन्दी—उस राजा की सेना में चलनेवाले घुड़सवारों ने मानों 'जिन' (जैन धर्म के उपास्य) के वचनों में श्रद्धा रखने के कारण ही उस विहार-स्थल को प्राप्त कर अनेक अश्वों को भी जिस प्रकार जैन साधक मंडली बनाकर अवस्थित होते हैं, उसी प्रकार मंडल बनाकर चलाया (मंडलाकार घुमाया)।

टिप्पणी—अश्व संचारण के कौशल का वर्णन। जैन संप्रदायी स्वकर्म-अनुष्ठान में मंडल बनाया करते हैं, ऐसी मान्यता है। उत्प्रेक्षा ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधार्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

जीवातु—द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः दिशो विलङ्घिताः। अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे'इति सुडागमषत्वयोर्निपातः। इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः। तुरङ्गमैर्धारा-ङ्गतिं जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः। अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डली क्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः। स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपदे'त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि। मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्त्वान्नुमागमः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अस्य द्विषद्भिः एव दिशः विलङ्घिताः अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदम् अकारि—इति इव तुरङ्गमैः धाराम् अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रया स्थली अमण्डि।

हिन्दी—इस (नल) के शत्रुओं ने ही (प्राणरक्षार्थ, भय से दिशाओं का लंघन कर दिया है, इसके यशः समूह ने ही समुद्र को गोखुर-प्रमाण का गर्त

बना दिया है—मानो यह विचार कर ही अश्वों ने 'धारा' (एक प्रकार घोड़ों के वेग से दौड़ने का प्रकार)—गति को छोड़कर मंडल करके दौड़ने की क्रिया (चक्कर काटना) की शोभा से धरती को सुशोभित किया।

टिप्पणी—नल के शत्रुओं का भय से पलायन और समुद्रपर्यन्त प्रसरित उसकी कीर्ति का संकेत है। आस्कंदित (सरपट) चाल, धौरितक (दुलकी), रेचित (सीधे दौड़ना), वल्गित (नाचते हुए—जैसे चलना) और प्लुत (उछलकर दौड़ना)—ये पाँच प्रकार की घोड़ों की चाल 'धारा' कही जाती हैं। जिन विहारस्थली में घोड़ों को इन प्रकारों से न चलाकर मंडलाकार चलाया। उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति का संकर अलंकार ।। ७१ ।।

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीनिजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ।।७२।।

जीवातु—अचीकरदिति। नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमरः। या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ्। तासु भ्रमीषु विषये मरूत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो यः'। अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचंक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किन्नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा। शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः। वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भावः ।। ७३ ।।

अन्वयः—नलः निजातपत्रस्य तलस्थले हयेन या चारु भ्रमीः अचीकरत् तासु अद्य अपि मरुत् वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं न शिक्षते (अपितु शिक्षत्येव)।

हिन्दी—नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े द्वारा जो मनोहर भ्रमण (चक्कर) कराये, आज भी क्या वायु वात्याचक्र (बवंडर) रूप में चक्कर खाते हुए उनके विषय में शिक्षा प्राप्त नहीं करता? (अपितु शिक्षा प्राप्त करता ही है, पर अभी तक सीख नहीं पाया)।

टिप्पणी—नल का विशिष्ट-अश्वचालन-कौशल और अश्व की वायु से भी अधिक तीव्रगामिता और सत्त्व द्योतित। उत्प्रेक्षा। ७३ ।।

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुपुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥७४॥

जीवातु—विवेशेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यमरः । तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः । विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र बवयोरभेदात् बिलासकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुपुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निधिमब्धिनमिव विवेश ॥ ७४ ॥

अन्वयः—ततः सः क्षोणीपतिः गत्वा हरिः इव सुषुप्सया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायम् विलासकाननम् अम्भसां निधिः इव (विलासकाननं) धृतीच्छया क्षणात् विवेश ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पृथ्वीपति जाकर मूंगों की लाली से खचित मेघ की छाया के समान छायावाले (मेघक्रांति) विलों के निवासी सर्पों के आवास समुद्र में जैसे हरि (विष्णु) शयन की इच्छा से प्रविष्ट हो जाते हैं, अथवा जैसे मूंगे—जैसे लाल किसलयों से सुंदर घनीछायावाले, जलस्थान से युक्त सुंदर वन में सुख से सोने की इच्छा से सिंह घुस जाता है, उसी प्रकार नवपल्लवों की लालिमा से विच्छुरित, घनीछायावाले क्रीडावन में मन बहलाने के लिए क्षण में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—राजा नल को सिंह-पराक्रमी और विष्णु के समान समर्थ प्रजापालक संकेतित किया गया है । उपमा और श्लेष ॥७४॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्त्तदृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ७५ ॥

जीवातु—वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं काननोपान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्य्यन्तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा

अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः 'उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि' त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वयः--क्रमेण अवतीर्णदृक्पथे तस्मिन् अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः पुरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहम् उपेत्य न्यवर्ति ।

हिन्दी--धीरे-धीरे राजा के नेत्रों से अगोचर हो जाने पर अनुगमन करते बंधुजनों का बंधु-सदृश नगरवासियों का दृष्टि-समूह अभिलाष के साथ वन-भूमि तक जाकर लौट पड़ा ।

टिप्पणी--जब तक राजा दिखायी पड़ता रहा, तब तक नगरवासी चाव से देखते रहे, जब आँख-ओझल हो गया, तभी लौटे,--यह कथन पुरवासियों की राजा के प्रति प्रीति का द्योतक है। अनुप्रास और सहोक्ति अलंकार। चतुर्थ चरण में उपमा ॥७५॥

ततः प्रसूने च फले च मंजुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम् ॥७६ ॥

जीवातु--तत इति । ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत् 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः ख' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः ॥ ७६ ॥

अन्वयः--ततः सः जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखीनाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं च व्यलोकयत् ।

हिन्दी—तदनन्तर वह नरनाथ मनोहर फूल और फल तथा अंगुलि उठा कर वन-पालक के हाथ से सादर विज्ञापित वन की रमणीयता का अवलोकन करने लगा ।

टिप्पणी—राजा का प्रकृति-प्रेम संकेतित। विद्याधर के अनुसार जाति और अनुप्रास अलंकार और मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, प्रसून, फल और वन में एक गुण मंजुलता अथवा रमणीयता होने से चंद्रकलाकार के अनुसार तुल्ययोगिता ॥७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥ ७७ ॥

जीवातु—फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन वाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते 'खगबाल्यादिनोर्वय'इत्यमरः। पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी'ति वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, 'अतिथेर्ञ्य' इति ञ्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिवभागवतवत्तमासः। 'वृद्धसंघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः। अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। कर्मणि लुङ् उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः शाखिभिः वने महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि।

हिन्दी—वय अर्थात् पक्षियों के आकर बैठने से उत्पन्न वायु से हिलते पल्लव (किसलय)—रूप हाथ में फल-फूलों को लेकर खड़े वृक्षों ने वन में वय अर्थात् तारुण्य के बीत जाने से (बुढ़ापा आ जाने पर) उत्पन्न वात दोष से काँपते पल्लव सदृश हाथ में फल-फूल लेकर खड़े विशिष्ट वेद-शाखाओं के अध्ययन से संबद्ध बूढ़े महर्षिगण से उस (नल) के आतिथ्य की शिक्षा ली।

टिप्पणी—मान्य अतिथि का स्वागत हुआ ही करता है, किसी आश्रम में पहुँचने पर जिस प्रकार वृद्ध महर्षि राजा का आतिथ्य करते, वैसे ही वन में फल-फूलो से संपन्न पल्लव-करों द्वारा पुराने वृक्ष कर रहे हैं। कालिदास ने वन में गोचारण करते राजा दिलीप का बाललताओं द्वारा पुष्प-वर्षा से आतिथ्य

होना चित्रित किया है (रघुवंश २।१०)। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा-श्लेष-रूपक का संकर है। विद्याधर के अनुसार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा और श्लेष। चंद्रकलाकार के अनुसार व्यस्तरूपक-श्लेषप्रतीयमानोत्प्रेक्षा का संकर।

विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम्॥ ७८॥

जीवातु–विनिद्रेति। विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थित-भृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः। आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलंङ्कृञि'त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः। दुर्यशोऽपकीर्तिं दधानं कैतकं केतकी-कुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श। अर्हस्य महापुरुषस्य वहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः। अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारो-पादपह्नुत्यलङ्कारः। 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात्॥

अन्वयः—कौतुकी सः तत्र विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् मृगाङ्क-चूडामणिवर्जनार्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं केतकं ददर्श।

हिन्दी—(अपूर्व पुष्पादि के दर्शन को) उत्सुक उस (नल) ने वहाँ (वन में) विकसित दलों की पंक्तियों पर बैठे भौरों के छल से चंद्रचूड शिव से तिरस्कृत होने से प्राप्त दिगंत में व्याप्त होते (भौंरें भी उड़कर दिगंतरों में चले जाते हैं) अपयश को धारण किये केतकी (केवड़ा) के फूल को देखा।

टिप्पणी—काले भौंरों से आच्छादित केतक की कविसमयसिद्ध कृष्णवर्ण दुर्यश-धारण-कर्त्ता के रूप में चित्रण किया गया है, इस कारण अपह्नुति है। चन्द्रकलाकार ने कैतवापह्नुति–प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का संकर माना है।

केतक के शिव द्वारा परित्यक्त होने के सम्बन्ध में दो पौराणिक प्रसिद्धियाँ हैं—(१) एक बार ब्रह्मा और विष्णु में परस्पर श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया। आकाशवाणी हुई कि जो शिवलिंग के ऊर्ध्वाधोभागों को देख सके, वही दोनों में बड़ा है। शिवलिंग की ऊँचाई-नीचाई का पार तो दोनों में कोई पा न सका, पर जहाँ विष्णु ने तथ्य को स्वीकारा वहाँ ब्रह्मा ने असत्य भाषण

किया कि वे शिवलिंग के ऊर्ध्वाधोभागों को देख सके हैं। साक्षी बना केतक। इस पर मिथ्यासाक्षी केतक का शिव ने त्याग किया। (२) राम-सीता-लक्ष्मण पितरों के श्राद्धार्थ गया पहुँचे। रामचंद्र ने फल्गु नदी-तट पर पितरों का आवाहन किया और लक्ष्मण नगर में श्राद्ध सामग्री लेने गये। उन्हें जब विलम्ब हुआ तो श्रीराम भी उनकी खोज में सीता को वहीं छोड़ चले गये। वे दोनों भाई लौट भी न पाये थे कि आहूत पितरों के हाथ श्राद्धपिंड-ग्रहणार्थ प्रकट हुए। यह देख सामग्री के अभाव में सीताजी घबराने लगीं। तभी आकाशवाणी हुई कि डरो मत, बालू के श्राद्धपिंड बनाकर समर्पित कर दो। सीता ने उसी प्रकार श्राद्ध-विधान कर दिया, साक्षी हुए वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकी का फूल। राम-लक्ष्मण के लौटने पर वह वृत्तांत बता कर सीता ने उन्हें पुनः श्राद्ध न करने की संमति दी, परंतु साक्षियों ने इस विषय में अपना अज्ञान प्रकट किया। साक्षियों के इस असत्य भाषण पर सीता ने इन्हें शाप दिये—गौ को मुखभाग से अपवित्र हो जाने का, अग्नि को सर्वभक्षी होने का, फल्गु को निर्जल होने का और केतकी पुष्प को शिव से त्यक्त होने का। तभी से केतक पुष्प सदाशिव को नहीं चढ़ाया जाता ॥७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

जीवातु—वियोगेत्यादि। कैतक ! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम्। विशेषणविवक्षया पुल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः। ततः कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयते विगर्ह्यसे। द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्र चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यत् स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः निधीयसे ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथदेहदाहिना विगीयसे (इति क्रुधा तेन केतकम् अक्रुश्यत—इति एकाशीतितमेन (८१) श्लोकेनान्वयः)।

हिन्दी—जो कि कामदेव द्वारा वियोगियों के हृदय में काँटों से क्रूर नुकीला बाण बनाकर घुसाये जाते हो, इससे बड़ी कठिनता से निकाल पाये जाने के कारण वियोगी के प्राण लेवा तुम कामदेव के देह को भस्म कर डालने वाले शंकर द्वारा विगर्हित—तिरस्कृत हो—ऐसा क्रोध में राजा ने केतक को कोसा।

टिप्पणी—केतकी का फूल देखकर वियोगियों का धीरज छूट जाता है, ऐसी मान्यता है। उसके पत्ते काँटेदार, नोकीले होते हैं। केतक पर कर्णिशरत्व का आरोप होने से रूपक और वियोगि-हिंसक होने के कारण महादेव से उसके त्यक्त होने की सम्भावना से गम्या हेतूत्प्रेक्षा, फलतः दोनों का संकर अलंकार।

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

जीवातु—त्वदिति। तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः'। दुर्यशांसि अपकीर्त्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यंति कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः। किञ्चेति वार्थः करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमरः। पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट्। दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणातिरूपकानुप्राणितेति सङ्करः॥ ८०॥

अन्वयः—त्वदग्रसूचीसचिवः सः मनोभवः कामिनः दुर्यशः पटौ सीव्यति करपत्रमूर्त्तिभिः पत्रैः च वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते—इति स्फुटम्।

हिन्दी—(अरे केवड़े के फूल), तेरी नोक रूप सुई की सहायता से वह मनसिज कामिजनों के अपयशरूप वस्त्रों को सिलता है और करपत्र (आरी) के तुल्य रूप वाले तेरे पत्तों से वियोगियों के हृदयरूपी काष्ठ को चीर डालता है, यह स्पष्ट है।

टिप्पणी—केवड़े की कलिका को अत्यन्त उद्दीपन माना जाता है, मान्यता है कामांध नर-नारी उसे देखकर उचितानुचित का मान भूल जाते हैं, केवड़े की कली देखकर उनका धैर्य भंग होता है और पत्र-दर्शन से हृदय विदीर्ण। उपमा-रूपक का संकर ॥८०॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम् ॥८१॥

जीवातु—धनुरिति। कैतक ! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः। 'वा संज्ञायामि' त्यवङादेशः। अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्भावितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः। अतिभीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्रस्तचापः स मां किं कुर्यादिति भावः। इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राजा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटने अघोष्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि प्रसूनधन्वा तव परागैः धूलिहस्तयन्, भीमजापरं मां शरसात्करोति—इति तेन क्रुधा केतकम् अक्रुश्यत।

हिन्दी—उस (नल) ने क्रोधपूर्वक इसलिए केवड़े को कोसा कि फूलों के धनुष् से टपकते मधु से गीला हाथ होने पर भी पुष्पधन्वा काम तेरे पराग की धूलि हाथ में (चिकनापन मिटाने के लिए, जिससे बाण फिसल न जाय) लगा कर ही भीमपुत्री-परायण मुझे अपने बाण का आखेट बना पाता है।

टिप्पणी—इस प्रकार तीन श्लोकों में कामोद्दीपक केतक-पुष्प का वर्णन किया गया। अतिशयोक्ति अलंकार ॥८१॥

विदर्भसुभ्रुस्तनतुङ्गतासये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

जीवातु—विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पादुत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे। दोहदश्चासौ धूपश्च

तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाढिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तप्तरोमभिः । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥' इति । तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः । अलमत्यर्थन्तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातॄन्, धेट्–पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणान्नानुवर्त्ति–पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः । अत एव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति । अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा । महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः ॥

अन्वयः—सः दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये अलं तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ।

हिन्दी—उस (नल) ने दोहद अर्थात् अतिशय फल समृद्धि के लिए विहित सामग्री से धूपायित अनार के वृक्ष पर सुन्दर भ्रुकुटीवाली वैदर्भी (दमयन्ती) के स्तनों की उत्तुगता प्राप्त करने के निमित्त मानो कठोर तपस्या करते (दोहद का) धूम पीते नीचे को मुँहवाले घड़ों के तुल्य फलों को देखा ।

टिप्पणी—पहिले फूल (केतक) का, फिर फल (दाडिम) का दर्शन । उत्प्रेक्षा अलंकार । समय से पूर्व ही फल पाने के निमित्त भाँति-भाँति के द्रव्यों के प्रयोग को दोहद कहते हैं । कहा जाता है कि भेड़ के मांस के पानी से सींचना और उसके केश जलाकर धूप देना दाडिम फल की समृद्धि के लिए लाभदायक होता है ॥८२॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

जीवातु—वियोगिनीमिति । असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ई गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः । उदीता उद्गता कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम् ।

'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके' इति वैजयन्ती। फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशेच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। रूपकालङ्कारः। विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते ॥ ८३ ॥

अन्वयः—असौ वियोगिनीं प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकां फलस्तनस्थान-विदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगां दाडिमीम् ऐक्षत।

हिन्दी—इस नल ने प्रिय की स्मृति से स्पष्टतः रोमाञ्चित होती जिसके अनार के फलों के तुल्य स्तनस्थली के मध्य (विरह से) विदीर्ण अनुरागी हृदय में तोते की चोंच के समान काम के बाण प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी विरहिणी के, अथवा परमात्म-साक्षात्कार रूप फल की बोधक तुरीयावस्था से विदीर्ण अर्थात् च्युत (तुरीयावस्था को अप्राप्त) अतएव विषयवासना में सानुराग जिसके हृदय से शुकदेव मुनि (व्यासपुत्र) के उपदेश प्रविष्ट हो रहे होने के कारण कामबाण निकालकर फेंके जा रहे थे, ऐसी विषयपराङ्मुख, परम-प्रेमास्पद सच्चिदानंदघन परमेश्वर की स्मृति अर्थात् निरन्तरध्यान करने से शीघ्र परमात्मप्राप्ति की सम्भावना से जात हर्ष के कारण स्पष्टतः जो रोमा-ञ्चित हो रही थी उस वियोगिनी अर्थात् अष्टांग योग की साधिका या विशिष्ट योगिनी के समान 'वि' अर्थात् पक्षियों से युक्त, प्रियस्मृति अर्थात् दोहद प्राप्ति के कारण, जिसमें स्पष्टतः नोक दीखने लगी थी और जिसके फल रूप स्तनों के स्थल-स्थान पर फट जाने से पक्षों की लालिमा स्पष्ट हो रही थी, जिसमें तोतों की चोंच रूप काम के पलाश-बाण प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी दाडिमी (अनार के पेड़) को देखा।

टिप्पणी—वन में पक जाने के कारण जिसके फट गये फलों के बीच तोते चोंच मार रहे थे, ऐसी दाडिमी की तुलना एक विरहिणी अथवा योगिनी से की गयी है। मल्लिनाथ ने इसमें रूपक अलंकार माना है, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर। चंद्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लिष्टैकदेशविवर्त्ति रूपकालंकार है ॥८३॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

जीवातु—स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः—'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति । वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसां कृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः ॥८४॥

अन्वयः—सः स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्वजुषां पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डम् (इव) आलोकत ।

हिन्दी—उसने काम के अर्द्धचंद्रबाण के तुल्य विरहिजनों के हृदय-विदारक' अत्यंत कृश (दुर्बल) राहगीरों (पथिकों) के पल (मांस) को खाने से स्पष्टतः 'पलाशः' नाम को सार्थक करते (पलं मांसम् अश्नातीति पलाशः) पलाश में लगे कृष्णवर्ण प्रसववंधन (कली के निम्नभाग में लगा काला खोल) को (पथिको के) कालखण्ड से जात खंड (कलेजे के टुकड़े) के समान देखा ।

टिप्पणी—कवि ने पलाश की लाल कली में वियोगी पथिकों के 'पलाश' (मांसाशी) द्वारा खाये गये कलेजे के टुकड़े की कल्पना की है । कली के नीचे के भाग में जो ऊपरी खोल का काला पत्ता जैसा लगा रह गया है, वह उस खाये गये मांस के सूख जाने के कारण है । नारायण पंडित ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने उपमा-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के संकर का और विद्याधर ने रूपक और उत्प्रेक्षा का ॥८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनि पपे ॥ ८५ ॥

जीवातु—नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दशीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गीत्यामिश्रितरूपा

अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते। दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते। नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः। उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यादादरश्च। 'दरोऽल्पे शङ्कभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती। अत्र प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यत' इति लक्षणात् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनि नवा लता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे।

हिन्दी - सुगन्धिद्रव्य लगाये नायक के तुल्य गंधवह (सुरभि समीर) द्वारा चुमी जाती, पुरुषस्पर्श से उत्पन्न स्वेद के समान पुष्प-रस-कणों से युक्त अगों वाली (सस्वेदा), मुसकान के कारण स्पष्ट होती सुन्दर दंतावली के तुल्य खिली मनोहर कलिकाओं से सम्पन्न, सात्विक कंप के सदृश वायु से धीरे-धीरे हिलती नवीना सुन्दरी के समान नयी लता को राजा ने दर (डर) और आदर के साथ देखा।

टिप्पणी—यहाँ वल्लरी को उस तन्वी के तुल्य माना गया है, जो 'नवा लता'—नयी लता के समान तो है ही, उसमें 'न विद्यते बालता (जिसमें बचपन शेष नहीं रहा) यस्यां'—तरुणी भी है। लता को चूमनेवाला गंधवह समीरण 'नवालतागन्धवह' भी (बालतागन्धस्य वहः लेशः अपि यस्मिन् न विद्यते)—जिसमें नाम को भी बचपन नहीं रह गया है—तरुण है, वह चन्दन, कस्तूरी आदि की सुगन्ध लगाये शौकीन छैला भी है। राजा ने उस समीरलता के मिलन को कुतूहलजन्य आदर के साथ देखा, स्वयम् विरही--वियुक्त होने के कारण वह मिलन उसे असह्य लगा। यह दर (डर) का कारण हुआ। श्लिष्ट विशेषण, लिंग और कार्य की समानता के आधार पर लता में अप्रस्तुत नायिका प्रतीति के कारण समासोक्ति ॥८५॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥८६॥

जीवातु—विचिन्वतीरिति । पन्थानं गन्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यण्प्रत्ययः पन्थादेशश्च । स एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः । तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः । विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । चंम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सः अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनैः अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बरारेः बलिदीपिकाः इव चम्पककोरकावलीः व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस (राजा) ने भ्रमर रूप काजल के व्याज से पथिक रूपी पतंगों को जला मारने के पाप को इकट्ठा करती कामपूजा में प्रयुक्त की जाने वाली दीप-वर्त्तिकाओं (शमा) की भाँति प्रतीत होती चम्पे की कलियों को देखा ।

टिप्पणी—एक मान्यता यह है कि भौंरा चम्पा-पुष्प पर नहीं जाता, यदि जाता है तो मर जाता है । सो चम्पा के पुष्प पर आसक्त हो चिपके भौंरे दीपिका में लगे काजल—कालौंच के तुल्य हैं, कृष्णवर्ण होने से जिसे अपुण्य-कर्म कहा गया है । चम्पक इतना कामोद्दीपक माना गया है कि जिसे देख विरही मर जाते हैं । विद्याधर ने इसमें रूपक अपह्नुति और उपमा अलंकार का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने अपह्नव और उत्प्रेक्षा का । चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ कैतवापह्नुति-उत्प्रेक्षा-उपमा का अंगांगिभाव संकर है ॥८६॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अमन्यतेति । असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी । अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्यादिना च्व्यर्थे ल्युन्प्रत्ययः, 'अर्हद्विषदि'त्यादिना मुमा-

गमः। तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

अन्वयः--असौ कुसुमेषुगर्भजं वियोगिनाम् अन्धङ्करणं परागं पुरा स्मरेण पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्ग-भस्म इव अमन्यत।

हिन्दी–इसे (नल को) फूलों के भीतर का वियोगियों को अंधा बना देने वाला पराग प्राचीन काल में काम द्वारा शिव पर छोड़े गये कुसुम बाणों पर लग गयी शिव के अंग की भस्म के समान प्रतीत हुआ।

टिप्पणी--आँखों में भस्म पड़ जाने पर दिखाई नहीं देता, कुसुमपराग भी उद्दीपक और वियोगियों को अंधा करदेनेवाला है। उत्प्रेक्षा और शब्दालंकार अनुप्रास ॥८७॥

पिकाद्वने श्रृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

जीवातु—पिकादिति। वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः। उदञ्चत्करुणं विकसद्वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा श्रृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः। अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः। सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्। स्थलपद्मिनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः; 'ल्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्। ददर्श ॥ ८८ ॥

अन्वयः–दूनः नलः पिकात् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशाम् वने उदञ्चत्करुणं श्रृण्वति सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीम् अनास्थया ददर्श।

हिन्दी--संतप्त नल ने कोकिल और भौरों के गुंजार से विरहिजनों की

दशा को विकसित होते करुण वृक्षों से युक्त वन में करुणा से परिप्लावित हो सुनते पुष्प रूप कर फैलाये स्थलकमलिनी को अनिच्छापूर्वक देखा।

टिप्पणी—वन में कोकिल-कूजन था, भ्रमर-गुंजार था, स्थल-पद्मिनी थी, जिस पर कमल खिले हुए थे। इन सब को देखकर वियोगी जन कष्ट पाते हैं। राजा की श्रवण में अनास्था का कारण है मानो स्थल-पद्मिनी का कमल कर फैला कर निषेध कि क्या किसी की करुणकथा—दुर्दशा की गाथा सुनते हो? यह निवारण कूजन, गुंजार, खिले कमल—सब की अनित्यता का सूचक है, इसके प्रति अनास्था ही उचित है। करुणा ही उचित है। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, जिसे चंद्रकलाकार ने सब का अंगांगिभाव संकर कहा है।

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्ज्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—रसालेति। अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमर-झङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलै-रङ्गुलिभिरिति भावः। वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनिमीमे'त्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्या-सस्ये'त्यभ्यासलोपः, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः। रसालसालश्चूत-वृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टः। द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ८९ ॥

अन्वयः—अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् इव रसालसालः समदृश्यत।

हिन्दी—उस (राजा नल) ने भनभनाते भ्रमरों के गुंजाररूप क्रोध की हुंकारी से युक्त, समीरण में डोलते बौर द्वारा वियोगियों को डाँटने-धमकाने-डराने की इच्छा करते जैसे आम्रवृक्ष को देखा।

टिप्पणी—वियोगियों के संताप देने वाले उद्दीपन बौराते आम का वर्णन मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-उत्प्रेक्षा।

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥९०॥

जीवातु—दिने दिने इति। रे इति हीनसम्बोधने। त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धिरि'ति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छ च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट। स्वस्यापि उक्तशङ्केयेति भावः॥ ९०॥

अन्वयः—रे, त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः मूर्च्छ च, मृत्युम् ऋच्छ च—इति सः पान्थं शपतः इव लोहितेक्षणान् (द्विजान् इव) पिकान् द्विजान् सखेदं ददर्श।

हिन्दी—अरे, तू दिन दिन और अधिक दुर्बल हो, बार-बार मूर्च्छित और मृत्यु को प्राप्त हो,—इस प्रकार राही को शाप देते लाल आँखे किये ब्राह्मणों के तुल्य कोकिलविहंगों को उस (राजा) ने खेदसहित देखा।

टिप्पणी—कोकिल की आँखें तो लाल ही होती हैं, इन्हीं के आधार पर उनके क्रोधी ब्राह्मणसम होने की कल्पना की गयी है, जो पास होकर जाने वाले को भी यों ही निष्कारण कोसता है। ऐसे लोगों को देखकर खेद होना स्वाभाविक है। कोकिला शब्द को सुनकर वियोगी परदेशी पथिक सन्तप्त और मूर्च्छित होते हैं। 'द्विज' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के कारण उपमा व्यङ्ग्य है।

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत॥ ९१॥

जीवातु—अलिस्रजेति। अलिस्रजा भ्रमरपंक्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमलिनाङ्गमित्यर्थः। 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः। चाम्पेयं चम्पकविकारं कुडमलम् 'अय चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पक' इत्यमरः। नन्वयुक्तमिदं 'न पट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तपरिहारः

अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः। अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान्। स नलः 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात्। वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः॥ ९१॥

अन्वयः—अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आतङ्कितवान् सः वियोगिनां विपदे उदीतं धूमकेतुम् अशङ्कत।

हिन्दी—भ्रमरमाल से जिसका शिरोभाग उन्नत हो रहा था, ऐसी चम्पा की कली को अधीर दृष्टि से देखकर आतंकित उस (नल) ने वियोगियों के विनाशार्थ उदित धूमकेतु की आशंका की।

टिप्पणी—लंबी चोंटी के समान जिसपर भ्रमरावली लिपटी है, उस चंपा की कली में विनाशकारी धूमकेतु की आशंका यह द्योतित करती है कि विरहिजनों को उसका देखना असह्य है। भौंरा प्राणघाती होने से चंपकपुष्प पर नहीं जाता—इस मान्यता को ध्यान में रखते हुए मल्लिनाथ 'चाम्पेय-कुड्मल' का अर्थ 'नागकेसर' लिया है, जो पीले रंग का फूल होता है। उत्प्रेक्षा अलंकार॥९१॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत्॥ ९२॥

जीवातु—गलदिति। स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः॥ ९२॥

अन्वयः—सः गलत्परागं भ्रमभङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरं मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणम् इव व्यलोकयत्।

हिन्दी—उस (राजा) ने जिससे पराग झड़ रहा था और जिसपर

मँडरा-मँडरा कर गिरती भौंरों की पंक्ति संसक्त थी, उस नागकेसर पुष्प को काम-बाणों की रगड़ से जिससे चिनगारियाँ निकल रही हों, ऐसी सान (लोहे की बनी छुरी, चाकू, तलवार, बाण आदि रगड़कर तेज करने का यंत्र) के समान देखा ।

टिप्पणी—नागकेसर का पराग-झाड़ता फूल मानों काम-बाणों को पैना करने का यंत्र है, उसकी मारक शक्ति का सहायक। 'मार' शब्द का सार्थक प्रयोग। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और जाति अलंकार, मल्लिनाथ ने (और चंद्रकलाकार ने भी) केवल उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

जीवातु—तदङ्गमिति । सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः । तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च, 'गुणस्त्ववृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयन्ती । तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादपादानात् पातुका धावन्ती', 'लषपते' त्यादिना उकञ्प्रत्ययः । स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः शिलीमुखालीः अलिपंक्तीः बाणपंक्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् 'न्यूनमिति शेषः । दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः । अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः लज्जितः ।

हिन्दी—सुगन्धयुक्त नल के अंगों की दिशा में सुगन्ध गुण को धारण करते पुष्प से उड़कर आती (अथवा 'गुणस्पृशः कुसुमात् सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य पातुकाः'—अन्वय करके 'सुगन्धित फूल से भी अधिक सुगन्धमय नल के अंगों की ओर उड़ी आती') भनभनाती भ्रमरावलि को देखकर उसे कुसुमधनु के गुण अर्थात् प्रत्यंचा से छूटी शब्द करती शिलीमुख अर्थात् बाणों की माला

समझ अपने धनुष् से दुर्निगंत अर्थात् लक्ष्य से भटके बाण की भ्रांति के कारण कामदेव लजा गया।

टिप्पणी—लक्ष्यभ्रष्टता के कारण काम का भ्रम में पड़ लज्जित होना—इस आधार पर भ्रांति और श्लेषानुप्राणिता उत्प्रेक्षा का संकर ॥९३॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—मरुदिति। मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः। 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः। कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः। मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपी'त्यमरः। स नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

अन्वयः—सः मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श।

हिन्दी—उस (नल) ने वायु से झूमते पल्लवों और काँटों से कटे-फटे, चंदन गन्ध से भी श्रेष्ठ सुगंध छलकाते, (अतएव) मरुत् देव के समान पल्लव अर्थात् विलासी विट के कांटों के समान तीक्ष्ण नखों (अथवा विलासी के पल्लवसम हाथ के काँटे अर्थात् नखों) के क्षत-चिह्न से युक्त, चंदन, कपूर आदि की सुगन्ध छलकाते वारांगना के कुच का सादृश्य अर्जित करनेवाले पके बिल्वफल को देखा।

टिप्पणी—बिल्वफल को 'वारनारीकुचसंचितोपम' इस आशय से कहा गया कि कुलनारी के नख क्षतों का प्राकट्य उचित नहीं होता। उपमा अलंकार।

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

जीवातु—युवेति । युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जने ण्यन्ताल्लुट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः । स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्य इत्यर्थः, अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे । अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ।।' इति लक्षणात् ।।

अन्वयः—युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तबकं भियान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य सः प्रकम्पितः ।

हिन्दी—तरुण-तरुणी के बिँधे चित्तों के मध्य डूब जाने योग्य फूलों से जिसका भीतरी भाग परिपूर्ण है, ऐसे पाटल के गुच्छे में भय से अंधी बुद्धि (विवेकहीनता) के कारण कामबाणों की भ्रांति से वह कंपित होने लगा ।

टिप्पणी—राजा ने समझा कि यह पाटलस्तबक नहीं बाणों से परिपूर्ण काम का तूणीर है । उद्दीपन । मल्लिनाथ ने यहाँ भ्रांतिमान् अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर ने रूपक और अनुप्रास का ।।९५।।

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ।। ९६ ।।

जीवातु—मुनीति । अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कुतः क्षय ? इति भावः । अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः । वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः सधांशुः शुभ्रांशुरि'त्यमरः । कलाकलापङ्कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु ? अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः ।। ९६ ।।

अन्वयः—वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिद्रुमः अनेन तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षित वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यत किल ।

हिन्दी--वन में (शुभ्र) कलियों से युक्त काले रंग के अगस्त्य वृक्ष को राजा ने काले पाख में हुए चंद्रकला-क्षय के कूट (व्याज, मिस) से खाये विधु (चंद्र) की कलाओं का वमन करता सिंहिकापुत्र राहु समझा।

टिप्पणी—अगस्त्य वृक्ष के पत्ते काले होते हैं, परन्तु कलियाँ उज्ज्वल शुभ्र, इसी कारण वृक्ष में राहु की और कलियों में चन्द्रकलाओं की संभावना की गयी है। राजा के मन में अगस्त्यवृक्ष को देखकर डर-सा लगा उसे दुष्ट ग्रह राहु समझकर। 'प्रकाश'-कार ने सिंहिका-पुत्र का अर्थ सिंहिनी का जाया सिंह करके यह भी कल्पना की है कि वन में खाये गये किसी खरगोश आदि शुभ्र पशु को उगलता यह सिंह है, जिसे देख राजा को डर लगा। वस्तुतः विरही राजा को अगस्त्यवृक्ष कष्टदायक लग रहा था। यह भी माना जा सकता है कि अगस्त्यवृक्ष को राहु रूप में देख राजा तुष्ट हुआ कि अब वियोगियों को संतप्त करनेवाला चंद्रमा तो राहु के डर से सताने को नहीं रहेगा, पर जब उसने देखा कि खाये चंद्र को राहु उगल रहा है, तो पुनः चंद्र-भय राजा को हो गया। मल्लिनाथ ने इस पद्य में उत्प्रेक्षा-अपह्नुति के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षारूपक-अपह्नुति-श्लेष के संकर का।

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा वृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ ९७॥

जीवातु--पुर इति। पुरोऽग्रे हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां नद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताक्षश्चक्रुरित्यर्थः। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरह-प्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ९७॥

अन्वयः—पुरः (पुरा) हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि नद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः तं मिलन्निमीलं विदधुः।

हिन्दी—सम्मुख (पहिले) बलात् तुषार से पांडु हुए पत्ते रूप आवरण (वस्त्र) को खींचने वाले वायु को लता से सम्बन्ध रखनेवाले हिलने-डोलने रूप विलास से युक्त फूलों के साथ क्रीडाएँ देख राजा ने आँखें मूंद लीं।

टिप्पणी—'नद्धविभ्रमाः' का 'वि' अर्थात् पक्षियों के भ्रम अर्थात् इधर-उधर उड़ते रहने का अर्थ किया जाता है। वायु नायक है और वीरुध—लता नायिका, जिसका पत्र रूप वस्त्र नायक बलात् उतार रहा है, इस संभोग दृश्य को न देखने की इच्छा से लज्जा अथवा विरह के कारण राजा ने आँखें मूंद ली। याज्ञवल्क्य का भी इस विषय में निषेध है कि नग्न अथवा रतिक्रीडा में संलग्न नारी को देखना उचित नहीं है। समासोक्ति अलंकार।

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान् ? ॥९८॥

जीवातु—गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृष्वि'ति विश्वः। 'धा कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधातेः ष्ट्रन्प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः, नमेर्मित्त्वविकल्पाद्ध्रस्वाभावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतो ऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छब्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः॥ ९८॥

अन्वयः—सः यदुत्सङ्गतले द्रुमाः विशालतां गता फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः तां धात्रीं वन्दमानान् तान् कथं न अभिनन्दतिस्म ?

हिन्दी—वह राजा जिसकी गोद में पलकर वृक्ष बड़े हुए, फलभार से अतिशय नम्र शिर करके (सिर झुका) उस अपनी पालन करने-हारी धाय-माँ (धरती) की वंदना करते उन वृक्षों का अभिनन्दन क्यों न करता ? (अथवा यह अर्थ भी कि राजा ने (विरही होने के कारण कुछ भी भला न प्रतीत होने से) अभिनन्दनीय वृक्षों का भी अभिनन्दन नहीं किया।)

टिप्पणी--कर्तव्य करने वालों का सभी अभिनन्दन करते हैं, सो राजा ने वंदना करते वृक्षों की प्रशंसा की, अथवा वियोग में राजा को कुछ भी--फल, फूल, वृक्ष, लता-भला नहीं लगता था, अतः उसने कर्तव्य-पालक वृक्षों की भी उपेक्षा कर दी। समासोक्ति ॥९८॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥९९॥

जीवातु--अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति-नृपायेति। वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्महः आतपः 'रोः नुपी'ति रेफादेशः। तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभूदिति भावः॥ ९९॥

अन्वयः-वनानिलैः हिमितं पुष्परसैः सुधीकृतं केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितम् अहर्महः तस्मै वियोगिने नृपाय कौमुदी मुदः न अधत्त।

हिन्दी—कानन समीरण से अतिशीतल, फूलों के रस द्वारा अमृत तुल्य और केतक-पराग-कणों से शुभ्र बनाया गया (अतएव सब प्रकार से सुखदायक बनाया गया) भी दिन का प्रकाश उस विरही राजा को चाँदनी—जैसा सुख न दे पाया।

टिप्पणी--ताप कम करने के सभी उपाय विरही राजा को व्यर्थ लगते थे। 'तस्मै वियोगिने नृपाय वनानिलैः···नृपाय मुदः अधत्त, कौमुदी न', इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया जाता है कि दिन के प्रकाश ने ही राजा को मोद दिया, चाँदनी ने नहीं, क्योंकि विरहिजनों को चाँदनी पीडादायिनी मानी जाती है। 'मुदः न अधत्त ? अपितु अधत्त एव'—इस प्रकार काकुवक्रोक्ति मानकर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या सुखदायक वने दिन के प्रकाश ने चाँदनी जैसा मोद नहीं दिया, अपितु दिया। 'कौमुदी' के समान 'अहर्महः' को मानने पर उपमा अथवा रूपक अलंकार। वनानिल

इत्यादि मे सुखदायक बना होने पर भी 'अहर्मह' मोद को न दे सका—इस अर्थ में कारण होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति निमित्त विशेषोक्ति है, विद्याधर ने ऐसा ही माना है ॥९९॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

जीवातु—वियोगेति । वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपकं, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः । मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति संकरः । अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥

अन्वयः—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननम् एव साक्षात् अमृतांशुं पश्यता रोषारुणचक्षुषा पिकेन कुहूरुता मुहुः चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

हिन्दी—विरही भी राजा के उस मुख को ही साक्षात् (प्रत्यक्ष) अमृत दीधिति चन्द्र के समान देखते क्रोध से आँखे लाल किये कोकिल ने 'कुहू-कुहू' बोलकर बारम्बार चन्द्रमा की शत्रु 'कुहू' अर्थात् अमावस्या को पुकारा ।

टिप्पणी—वियोग पीडित होने पर भी राजा का मुख रमणीय रहा, यह भाव है, जिसे देखकर वियोगियों को दुःखदेने वाले कोकिल ने क्रुद्ध हो चंद्रवैरिणी अमावस्या को पुकारा । कोकिलरव वियोगी की पीडा को बढ़ाता है । रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ॥
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥ १०१ ॥

जीवातु-अशोकमिति । एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः । अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः । अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणे रक्षणे

साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः। 'शर्णं रक्षणे गृह' इति विश्वः। 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः। आगतान् शरणागतानित्यर्थः। गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः। 'गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः। अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफल-स्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः। अमन्यत ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः॥ १०१॥

अन्वयः—एषः पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थान्वित-नामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत।

हिन्दी—उस (राजा) ने पल्लवरूप करों में काम के देदीप्यमान अस्त्र रूप नवकलिकाओं को ग्रहण किये अशोक वृक्ष को 'यह वृक्ष अपना 'अशोक' (शोकरहित, शोकनाशक) नाम सार्थक करेगा'—इस आशा से शरण गये घर के सोच में व्याकुल पथिकों की रक्षा करनेवाला जैसा माना। अथवा काम के आग्नेय अस्त्र पल्लव-करों में लिये शरण आये पथिकों की हत्या करनेवाला जैसा माना।

टिप्पणी—अशोक के रक्तवर्ण पत्रों की समता काम के देदीप्यमान आग्नेय अस्त्रों से की गयी है। कामोद्दीप्त करनेवाला अशोक उन वियोगी पथिकों की, जो उसके 'अशोक' नाम से आकृष्ट हो उसकी शरण आये हैं, काम से उनकी रक्षा के लिए अस्त्र लेकर सन्नद्ध है अथवा 'अवन्तम्' का 'व्यापादयन्तम्' अर्थ करने पर उनकी हत्या कर रहा है। दोनों ही संभावनाएँ हैं। अस्त्रधारी रक्षक भी हो सकता है, विनाशक भी, किन्तु विरहिजनों का पीडक होने से 'विनाशक'-पक्ष ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है, जिससे यह भाव निकलता है कि नल भी अशोक के पल्लव-कलिकाओं को देख और भी व्यथित हुए। 'गृहिणी गृह-मुच्यते'—इस न्याय से 'गृह' का अर्थ पत्नी मानकर 'गृहशोचिनः' का तात्पर्य 'प्रिया के सोच में डूबे' समझना चाहिए। सापह्नुवा उत्प्रेक्षा।

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमाररार्ध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाजनः ?॥

जीवातु—विलासेति। विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां

वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्त्तुं, आरराध आराधयामास। तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः सुखं तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १०२ ॥

अन्वयः--(नलः) विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् वने अपि तं तौर्यत्रिकम् आरराध; भाग्यभाक् जनः क्व भोगम् न आप्नोति ?

हिन्दी-- राजा नल ने विलास-बावड़ी के तट से टकराती लहरों से वादन, कोकिल-भ्रमरों से गीत और मयूरों के नृत्य कौशल से नर्तन—इस वन में भी तौर्यत्रिक (नृत्य, गीत, वाद्य) का आनंद पाया; भाग्यवान् व्यक्ति को कहाँ भोग-ऐश्वर्य नहीं प्राप्त हो जाता ? सर्वत्र ही प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी—राजा को वन में भी 'तौर्यत्रिक' प्राप्त हो जाने से यह भाव निकलता है कि भाग्य का लेख कहीं पीछा नहीं छोड़ता। राजा के भाग्य में यह सुख था, सो वन में भी मिल गया; अथवा राजा चित्त-विनोदार्थ—मन बहलाने एकांत की खोज में निकला था, पर सुख-भोग ने, जो वियोग-दशा में उसे भाता नहीं था, उसका पीछा न छोड़ा और उसके खेद का कारण बना। १०४वें श्लोक से यह स्पष्ट हो गया है। सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास ॥१०२॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः॥ १०३ ॥

जीवातु--तदर्थमिति। जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्। तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः। उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

अन्वयः—जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तम् अस्तुवन्, तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः (सारिकाः) च स्वरामृतेन उपजगुः ।

हिन्दी—परिजनों द्वारा नल की स्तुति के लिए सिखाकर उस वन में छोड़े गये, चतुर (स्पष्ट बोलने वाले) तोतों ने (वहाँ नल की) स्तुति गायी और उसी प्रकार नल के पराक्रम के गीत गाना सीखीं मैनाओं ने अपने स्वरामृत (मीठे स्वर) से गायन किया ।

टिप्पणी—वन में भी पक्षियों द्वारा राजा की विरुदावली का गान । कालिदास ने भी वन में गाय चराते सम्राट् दिलीप के विषय में ऐसा ही उल्लेख किया है—'आलोकशब्दं वयसां विरावैः ।' (रघुवंश २।९) । विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥१०३॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥१०४॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वम् । असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवल' इति विश्वः । बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः । 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—इति इष्टगन्धाढ्यं वनम् अटन् पिकोपगीतः अपि शुकस्तुतः अपि च असौ परं बहिः आमोदभरम् अविन्दत, विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरम् न (अविन्दत) ।

हिन्दी—इस प्रकार अभीष्ट गन्ध से समृद्ध वनमें भ्रमण करते हुए कोकिल गान और शुक-स्तुति सुनकर भी उसने केवल बाह्य आनंद ही प्राप्त किया, विदर्भ की सुतनया (दमयंती) से विरह के कारण (वास्तविक) आंतरिक आनंद नहीं ।

टिप्पणी—वियोगी को 'तुहिनदीधिति' भी 'दवदहन' प्रतीत होता है, सो सुख-साधन भी विरही नल के खेद के कारण ही बने, वास्तविक आनंद उसे न मिल पाया। उक्तिनिमित्ता विशेषोक्ति ।.१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

जीवातु—करेणेति । स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

अन्वयः—सः निजकेतनं मीनं द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्र मधुम् अनुसरन् स्मरः इव व्यतर्कि ।

हिन्दी—उस (राजा) ने कहीं वृक्षों के चारों ओर बने आलवालों (थालों) के जलमें प्रविष्ट न हो जाय—इस भय से अपने ध्वज के मत्स्य को हाथ से पकड़े सब ऋतु से परिपूर्ण (अथवा सब ऋतुओं में घन अर्थात् हरे-भरे रहने वाले) उस वन में वसंतसखा का अनुसरण करते—जैसे कामदेव की तर्कणा की ।

टिप्पणी—'सदाबहार' उस वन में विरही नल को चारों ओर कामसाम्राज्य ही प्रतीत हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास—उत्प्रेक्षा ॥१०५॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामु मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ १०६ ॥

जीवातु—लतेति । लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः। 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः, पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्रुचो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक्। सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः। एतेन कृतलीलाव-

गाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

अन्वयः--लतावलालास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानिलः अमुम् असेवत ।

हिन्दी—वल्लरी रूप कामिनियों को नृत्य कला का शिक्षण देनेवाले गुरु, वृक्षों के फूलों की गंध आँख-देखते उड़ानेवाले चोर, पुष्पमधु से सुगंधित जल में जलक्रीडा (विहार) करनेवाले (इस प्रकार मंद, सुगंध, शीतल) वन-समीर ने नल की अभ्यर्थना की ।

टिप्पणी--वन में भी राजा की अभ्यर्थना । तुलनीय-पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी । तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ (रघु० २।१३) । विद्याधरने अनुप्रास-रूपक अलंकारों का निर्देश किया है, चंद्रकलाकार ने रूपक-समासोक्तिभाव के अगांगिभाव संकर का ।

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

जीवातु--अथेति । अथ वनालोकनानन्तरं मन्थनाद्भूयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः । चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परादिभ्यस्तनो वक्तव्य' इति त्नप्रत्ययः । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः । स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपान्निधिरिवेत्युत्प्रेक्षा । तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ अवनीभुजा मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं स्वं चिरत्नरत्नाधिकं आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपां निधिः इव तडागः ददृशे ।

हिन्दी--तत्पश्चात् राजा ने मन्थन के डर से चिरकाल से संचित (वृद्धि को प्राप्त) अपने पुरातन प्रचुर रत्नों को लेकर उस वन में छिपकर रहते हुए जलनिधि के सदृश सरोवर को देखा ।

टिप्पणी—मंथन करके कहीं ये रत्न भी न निकाल लिये जायं—इस डरसे

वन में आकर छिपे समुद्र के रूप में सरोवर की उद्भावना सरोवर की निर्मलता और गंभीरता की द्योतक है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा तथा चंद्रकलाकार ने समोसोक्ति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-अतिशयोक्ति-समासोक्ति हैं। यहाँ से ११६वें श्लोक तक सरोवर का वर्णन है ॥१०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः ॥१०८॥

जीवातु—यदुक्तं घनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः। यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूमिदस्तट-प्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः। मृणालजालस्य विसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृशयोरि'ति विश्वः। अनन्तोरगस्य शेषाहेः, पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्बद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार। तत्रैक एवैरावतः, अत्र त्वसंख्या इति व्यतिरेकः। अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत्,'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः ॥१०८॥

अन्वयः—यः जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदः मृणालनालस्य निभाद् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाभ्रमुकावलीरदान् बभार।

हिन्दी—जो (सरोवर) जल में आधे डूबे, तीर के निकट की धरती से बाहर आये मृणालों के व्याज से असंख्य सर्पों की पूँछ के सदृश जल में छिपे ऐरावतों के दाँतो को धारे हुए था।

टिप्पणी—जब तालाब समुद्र-सम था तो उसमें उसके अनुरूप सामग्री भी अपेक्षित है, अतः यहाँ ऐरावतों की संभावना की गयी मृणालजाल में। समुद्र से तो एक ही ऐरावत निकला था, यहाँ 'अभ्रकामुकावली' है। ऐसा लगता है कि समुद्र में अनेक ऐरावत थे, मंथन में एक निकाल लिया गया, शेष की रक्षा के लिए समुद्र तालाब बनकर वन में आ छिपा। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव और व्यतिरेक, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति। चंद्रकलाकार ने यहाँ उपमा-कैतवापह्नुति का संकर माना है ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

जीवातु—तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैरुग्रताडनैः, 'अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः, चलदुल्ललदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभावित्युत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥१०९॥

अन्वयः—यः तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ ।

हिन्दी—जो (तडाग) तीर पर विश्राम करते नल के अश्वों के स्पष्ट उभरते प्रतिबिम्बों के चुम्बन (संबंध) से (व्याज से) लहर रूपी चाबुक की मार खाकर चलते हजारों उच्चैःश्रवा (नाम के इंद्राश्वों) को धारण करता सुशोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नलाश्वों की प्रतिच्छाया से अनेक इन्द्राश्वों की संभावना की गयी। विद्याधरने यहाँ अपह्नुति, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक के साथ-साथ 'नलाश्वों का उच्चैःश्रवा के सदृश होना' गम्य मानकर अलंकार से वस्तुध्वनि भी। चंद्रकलाकार वस्तुध्वनि के साथ रूपक और उत्प्रेक्षा का निर्देश करते हैं ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥११०॥

जीवातु—सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

अन्वयः—यः अलिश्यामलतोदरश्रियां सिताम्बुजानां निवहस्य छलात् तमः-समच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहुलं सुधांशोः कुलं वहन् बहु बभौ ।

हिन्दी—जो (तालाब) भ्रमरों से श्यामल मध्य भाग की शोभा से युक्त श्वेतकमल-समूह के व्याज से अंधकार सदृश प्रतीत होते कलंकचिह्न से व्याप्त अमृत किरण चन्द्र के विस्तृत समूह को धारण करता बड़ा भला लग रहा था ।

टिप्पणी—यहाँ भ्रमरावली से शोभित श्वेतकमलों में अनेक चंद्रों की कल्पना की गयी, जिससे सरोवर की स्वच्छता भी द्योतित होती है । 'बहुलम्' का अर्थ कृष्णपक्ष-संबद्ध भी हो सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अपह्नव और व्यतिरेक हैं, चंद्रकलाकार उपमा-कैतव-अपह्नुति का अंगांगिभाव संकर मानते हैं और विद्याधर अनुप्रास और अपह्नुति का निर्देश करते हैं ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

जीवातु—रथाङ्गेति । यस्तडागो रथाङ्ग चक्रवाकः चक्रायुधञ्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्य्याय-त्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः', कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुल-सहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालं शेषाहिरि-वेत्युपमितसमासः, तद्भुवा तदाकरेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मम्' इत्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृ-तोऽधिष्ठित इति यावत् । अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारो-पादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

अन्वयः—यः रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा मृणालशेषाहिभुवा शिलीमुख-स्तोमसखेन सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् शार्ङ्गिणा अन्वयायि ।

हिन्दी—जो (सर) चक्रवाकयुगलों से शोभित, कमलों से परिपूर्ण, मृणाल रूप शेषनाग पर स्थित, भ्रमर-समूह से पूर्ण कमलिनी के गुल्म-समूह के व्याज से

चक्रधारी लक्ष्मीपति, मृणालसदृश शेषनाग पर शयन करनेवाले, भ्रमरसमूह के तुल्य श्यामशार्ङ्गपाणि विष्णु के सदृश लगता था।

टिप्पणी—द्वयर्थक शब्दावली के प्रयोग द्वारा 'सरोजिनीस्तम्बकदम्ब' में विष्णु की कल्पना की गयी है; जैसे सागर में शेषशायी विष्णु हैं, वैसे ही यहाँ कमलिनी-गुल्म-समूह है। विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष-उपमा-अपह्नुति अलंकार हैं, जिनकी निरपेक्षस्थिति के आधार पर चंद्रकलाकार यहाँ उनकी संसृष्टि मानते हैं, मल्लिनाथ ने कैतवाह्नुति का निर्देश किया है ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः॥ ११२॥

जीवातु—तरङ्गिणीरिति। यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकम्बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चे'ति भृञो विकल्पादाम्प्रत्ययः। किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति। अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः॥ ११२॥

अन्वयः—यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः स्ववल्लभाः तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव, यः च दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः।

हिन्दी—जो (तालाब) अंक में उठती तरंगमाला रूप अपनी प्रिया नदियों को धारण कर रहा था और जो कुछ-कुछ खिलीं रक्तकमलसमूह की कलियों के-से सुशोभित होने के कारण मूँगों के अंकुरों के संचय से युक्त लगता था।

टिप्पणी—समुद्रप्रिया नदियों के रूप में तडाग में उठती लहरे हैं और लालकमलों की कलियाँ लाल मूँगों का ढेर, इस प्रकार भी सर-सागर में साम्य स्थापित किया गया। मल्लिनाथ के अनुसार कोकनद कोरकों के विद्रुमभाव से रूपण होने के कारण रूपक है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक-अपह्नुति का संकर॥११२॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

जीवातु—महीयस इति । यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सितासितयोरिति भावः । त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने । अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

अन्वयः—नलेन यः महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुञ्चन् मेने ।

हिन्दी—नल ने जिसे अत्यन्त शुभ्र और अत्यन्त नील कमलसमूह के छल से जल में छिपे चंद्र और कालकूट विष की छटा छोड़ते हुए माना ।

टिप्पणी—श्वेत कमल चंद्र के और नील कमल कालकूट के प्रतीक हैं । विधु से कुछ विद्वान् 'अमृत' का संकेतार्थ भी लेते हैं, क्योंकि आधार से आधेय का भान हो सकता है, चंद्र को अमृतदीधिति कहा ही जाता है । अमृत-विष का विरोधी युग्म भी है । सापह्नवा उत्प्रेक्षा अथवा इन दोनों का संकर ।

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

जीवातु—चलीकृता इति । यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनाश्चलीकृताः चञ्चलीकृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पंक्तयः हव्यं वहतीति हव्यवाडवाग्निः 'वहश्चे'ति ण्विप्रत्ययः । तस्यच्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः । बहिरुत्थितधूमपटलवद्बभुरित्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गिणैः चलीकृता अबालशैवाललतापरम्पराः वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां ध्रुवं दधुः ।

जहाँ लहरों के कंपन से चंचल बड़ी-बड़ी शैवाल की बेलें वाडवाग्नि की स्थिति के कारण ऊपर उठते प्रचुर धूम की निश्चयतः धारणा बना रही थीं ।

टिप्पणी—धुएं की रंग की सिवार में सागर की वाडवाग्नि के धुए की कल्पना, जिससे सर में समुद्र के तुल्य वाडवाग्नि की संभावना। उत्प्रेक्षा।

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बितामोदभरं विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता॥ ११५॥

जीवातु—प्रकाममिति। आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः। यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सरं इवाचरिता। 'उपमानाद् कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्तः, 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा॥ ११५॥

अन्वयः—यत्प्रभवा सरोजिनी आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकामं करम्बिता आमोदभरं विवृण्वती दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा अप्सरायिता।

हिन्दी—जिस सरोवर में उत्पन्न कमलिनी सूर्य को पाकर कंटकान्वित हो सुगंध-भार को फैलाती दिन में स्पष्टतः कमलरूप प्राप्त करती जैसे इंद्र को पा रोमांचित हो आनंदातिशय प्रकट करती उज्ज्वल सुन्दर शोभामयी देह-धारिणी अप्सरा होती है, वैसी ही प्रतीत होती है।

टिप्पणी—श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से कमलिनी में अप्सरात्व की कल्पना। श्लिष्टोपमा (मल्लिनाथ) अथवा श्लेष उपमा अलंकार (विद्याधर)॥११५॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्तितान पक्षान् धुवतः सपक्षताम्॥ ११६॥

जीवातु—यदिति। यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चंचलः तटद्रुमैः निमज्ज्य सतो वर्त्त-

मानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बतायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान ।

हिन्दी—जिस (सरोवर) के जल-प्रवाह में जिसकी दीर्घता प्रतिविम्बित हो रही थी, ऐसा वायु-प्रकंपित लहरों वाला तीरवर्ती वृक्ष पानी के भीतर छिपकर रहते मैनाक पर्वत की समानता का विस्तार कर रहा था ।

टिप्पणी—समुद्र के अन्तवर्ती मैनाक पर्वत के साम्य में तट-वृक्ष के प्रतिबिम्ब की कल्पना । उपमा ॥११६॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुपि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्र विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥

प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्चोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

जीवातु—पयोधीति । अथ च नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञि' त्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुपि तत्सदृश इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'-दिना निपातनात् साधुः । हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि-प्रियास्विति । बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्चोस्त्रोटयोः 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्लवञ्च चञ्चोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुह-

स्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचर-रागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः। ईदृशं हंसम बोधीति पूर्वेणान्वयः। 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम्। तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतरपर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्कस्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम्। अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः। तेन स बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोत्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्येव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७–११८ ॥

अन्वयः—पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्र केलिपल्वले सः नैषधः रिरंसुहंसीकलनादसादरं बालासु रतिसमासु च प्रियासु चञ्चोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मराङ्कितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतम् अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसम् अबोधि।

हिन्दी—(उपर्युक्त प्रकार से) समुद्र की श्री के अपहर्त्ता (सागरतुल्य) उस क्रीडा सरोवर में उस निषधराज ने रमणेच्छुका हंसियों के अव्यक्त मधुर स्वर में साभिलाष, बाला और रमण में समर्थ स्व प्रियाओं के मध्य चोंचो और चरणयुगल के मिस दो पत्तियों और पल्लवो से युक्त कामसमुत्पन्न अनुराग-रूप वृक्ष के अंकुर को धारण कर निकट ही विचरण करते विचित्र स्वर्णमय हंस को देखा।

टिप्पणी—इस 'युग्म' में विचित्र स्वर्णहंस के दृष्टिपथ में आने का वर्णन है। 'अंतिके विचरन्तम्' का अर्थ हंसियों के समीप ही नहीं, क्रीडासर के

निकट भी माना गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'हिरण्मयः पुरुषः', 'एको हंसः'—इस श्रुति-वचन को आधार मानकर 'पयोधिलक्ष्मीमुषि····· नैषधः' का अन्य अर्थ भी द्योतित किया है। वह कहता है कि पूर्वोक्त श्लोकों में और यहाँ भी क्रिडा-सर को सागर के सदृश बताया गया है और यहाँ केलिपल्लव (क्रिडा की लघु सरसी) कहा गया, यह उचित नहीं है। इसी के औचित्य में वह अर्थ करता है कि विस्तार में समुद्र तुल्य और विनश्वर होने से पल्वल तुल्य शरीर में विचरते जैसे कोई योगी आत्म 'रिरंसुहंसीकलनादसादर' (आत्म शक्ति के अव्यक्त प्रिय नाद में साभिलाष) परमात्मा को देखता है, वैसे ही उस हिरण्मय-परमात्मस्वरूप हंस को नैषध ने देखा। प्रियासु ·····बिभ्रतम्' का अर्थ यह भी पल्लवित किया गया है कि हस की दो प्रकार की प्रिया थीं—बाला—अरतिक्षमा किंतु आसन्नयौवना, जिनके निमित्त हंस चोंच रूप पत्तियाँ लिये था अर्थात् उनको चुम्बन मात्र से तुष्ट करता था और इस प्रकार बालिका-गोचर राग प्रकट कर रहा था। दूसरे प्रकार की प्रौढा रतिसमर्था नायिकाओं के निमित्त गाढरागतासूचक लाल चरण युगल थे। इस प्रकार वह हंस स्मर-तरु के अंकुर से युक्त था, जो क्रमशः पत्रित और पल्लवित था। विद्याधर ने इस 'युग्म' में अनुप्रास-यथासंख्य-रूपक-अपह्नुति की संसृष्टि का निर्देश किया है; मल्लिनाथ के अनुसार 'रागमहीरुहाङ्कुर' में रूपक है, जो 'चञ्चुचरण-मिषेण'—अपह्नुति से अनुप्राणित है, इस प्रकार रूपक-अपह्नुति का संकर है। और इसके द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर रागों के भेद में अभेद लक्षण अतिशयोक्ति से उत्थापित चंचु चरण के व्याज से आन्तर की बहिरङ्कुरितता—उत्प्रेक्षा व्यंजित हुई है। इस प्रकार अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि है। चंद्र-कलाकार ने अलंकार-ध्वनि मानी है और पहिले श्लोक में निदर्शना तथा दूसरे में यथ संख्य—रूपक—कैतवापह्नुति के संकर का निर्देश किया है।

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकांतमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रांतमना मनागभूत् ॥ ११९ ॥

जीवातु—महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं मनो विनोद-यतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगनिर्भरमतिमात्रं

विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

अन्वयः—सः महीमहेन्द्रः एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः, अपि मनाक कुतूहलाक्रान्तमनाः अभूत् ।

हिन्दी—इस धरती को इंद्र (नल) का मन वहाँ निर्जन में मनोविनोद करने वाले अथवा वहाँ एकांत वन में राजा का मन प्रसन्न करने वाले अथवा नियमपूर्वक अत्यन्त आह्लाददायक उस पक्षी (स्वर्णहंस) को क्षण भर निहार कर प्रिया के वियोग के कारण अत्यन्त विह्वल होने पर भी थोड़ा-सा कुतूहल से आक्रांत हो गया ।

टिप्पणी—विचित्र पदार्थ प्रत्येक अवस्था में मन को आकृष्ट करते ही हैं । ऐसा ही नल के साथ हुआ, कौतुक से उसका चित्त भर उठा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और विशेष अलंकार ॥११९॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥ १२० ॥

जीवातु—कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति । अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया'दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यम' इति विश्वः । वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म ॥ १२० ॥

अन्वयः—अवश्यभव्येषु वेधसः अनवग्रहग्रहा स्पृहा यया दिशा धावति तया जनस्य भृशावशात्मना चित्तेन तृणेन वात्या इव अनुगम्यते ।

हिन्दी—नियम से होने वाले शुभाशुभ कार्यों के विषय में विधाता की अबाध्य—निरर्गल प्रसार वाली इच्छा जिस मार्ग से भागती जाती है, उसी

मार्ग से मनुष्य का अत्यन्त पराधीन चित्त भी उसी प्रकार अनुगमन करता है, जिस प्रकार तिनका वात का अनुगमन ।

टिप्पणी—विरही राजा का मन भी कुतूहलाक्रांत क्यों हुआ, इसका उत्तर इस अर्थान्तरन्यास द्वारा दिया गया । यह निधाता का नियत लेख था कि हंस के माध्यम से नल-दमयन्ती के संदेशों का आदान-प्रदान हो और उनका विवाह हो, इसी कारण विह्वल राजा का मन भी विधि-विधान-वश स्वर्णहंस के प्रति कुतूहलाक्रांत हुआ । उपमा ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
सतिर्य्यगावर्जितकंधरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥ १२१ ॥

जीवातु—चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति-अथेति । अथ नलदृष्टि-प्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकाः पादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयठन्प्रत्ययः, 'तद्धितार्थे'त्यादिना सङ्ख्यासमासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन तादूप्याभावान्न पादः पदादेशः, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप । स्वभावोक्तिरलङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥

अन्वयः—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकाम् प्रबलस्य तिर्यगावर्जितकन्धरः (भूत्वा) पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं क्षणं निदद्रौ ।

हिन्दी—तदनन्तर उस समय सुरतखेद से शब्द कर वह पक्षी (हंस) एक पैर के सहारे खड़ा हो थोड़ी-सी टेढ़ी गरदन करके पंख से शिर ढककर सरोवर के निकट क्षण भर को सो गया ।

टिप्पणी—पक्षिस्वभाव का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति और विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥१२१॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ? ॥ १२२ ॥

जीवातु—सनालमिति । स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं

निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्माबुजं किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम् ? इति शब्दोऽत्राहार्य्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धो ध' इति तकारस्य धकारः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—सः तम् आत्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालम् अम्बुजन्म किम् (इति) अबुद्ध, (अथ) विद्रुमदण्डमण्डितं पीतम् अम्भःप्रभुचामरं च किम्—(इति अबुद्ध)।

हिन्दी—उसने उस (हंस) को अपने (नल के) मुख की कांति से पराजित (अतएव) लज्जा से झुका यह नाल सहित जलज (कमल) है, यह तर्कणा की अथवा यह मूंगों से जिसका दंड मढ़ा हुआ है, ऐसा पीले वर्ण का जल के स्वामी वरुण का चामर है—यह समझा ।

टिप्पणी—हंस के प्रति दो सम्भावनाएँ । लाल चरण और पीला हंस, अतः वर्णसाम्य के आधार पर विद्रुमदंडमंडित वरुण-चामर की कल्पना । विद्याधर के अनुसार संदेह अलंकार, चंद्रप्रभाकार के अनुसार काव्यलिङ्ग-उत्प्रेक्षा-तुल्ययोगिता का अङ्गांगिभाव संकर ॥१२२॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयोः प्रबालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ?॥ १२३ ॥

जीवातु—कृतेति । ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नलस्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः । पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः । 'तुं काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

अन्वयः—ततः हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः वनयोः प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे बद्धवर्मणी रेजतुः किमु ?

हिन्दी—तदनंतर घोड़े से उतरे इस (नल) के जूता-पहिने पैर दोनों

वनों (जंगल और जल) के पल्लव और कमलों से युद्ध करने के निमित्त कवच-धारण किये सुशोभित हो रहे थे क्या ?

टिप्पणी—नल उपानह्-धारी दोनों चरणों का साम्य क्रमशः वन (उपवन, जंगल) के किसलय और वन (जल) के रक्तोत्पलों से किया गया है। जूता रूपी कवच धारे वे चरण पल्लव और रक्तोत्पल से युद्धार्थ प्रस्तुत हैं। भाव यह है कि नल के चरण अपने दोनों उपमानों की चुनौती स्वीकार कर उन पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने को उद्यत हैं। विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और उत्प्रेक्षा, जिसे चंद्रकलाकार ने इन दोनों, अलंकारों का अंगांगिभाव संकर कहा है। मल्लिनाथ ने केवल उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है ॥१२३॥

विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

जीवातु—विधायेति। अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप्, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्तिं विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः। मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः, । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अयं नृपः स्वयं कपटेन बलिध्वंसिविडम्बिनीं वामनीं मूर्त्तिं विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गं समधत्त ।

हिन्दी—इस राजा (नल) ने स्वयं कपट से बलिराज का ध्वंस करनेवाले विष्णु का अनुसरण करने वाली वामनी—छोटी देह बनाकर (सिकुड़ते हुए) निःशब्द चरण धरते हुए समीप पहुँचकर हाथ से उसी प्रकार उस पतंग (पक्षी हंस) को हाथ से पकड़लिया, जैसे वामन विष्णु ने अकाशगामी निःशब्द चरण धरते हुए पास पहुँच कर सूर्य को हाथ से छू लिया था।

टिप्पणी—पौराणिक कथा के माध्यम से वामन से राजा नल की तुलना। पक्षी को दबे पैर चुपचाप पहुँच कर ही पकड़ा जाता है। मल्लिनाथ ने यहाँ स्वभावोक्ति, चंद्रकलाकार ने उपमा स्वभावोक्ति के संकर और विद्याधर ने उपमा और जाति अलङ्कारों का निर्देश किया है ॥१२४॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

जीवातु—तदिति । स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान् । यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुष्यादित्वात् च्लेरङादेशः । उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् । अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥ १२५ ॥

अन्वयः—सः आत्मानं तदात्तम् अवेत्य संभ्रमात् उत्प्लवाय पुनः पुनः प्रायसत् (किंतु) उड्डयने निराशतां गतः विरुत्य केवलं निरोद्धुः करौ दशति स्म ।

हिन्दी—वह (हंस) अपने को नल के अधीन जान कर आतंकित हो वारंवार उड़ने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु उड़ने में निराशा को प्राप्त हो केवल दीन शब्द करता हुआ पकड़नेवाले नल के हाथों को काटने लगा ।

टिप्पणी—यह पक्षी का स्वभाव है कि इस दशा में फड़फड़ाता और चिल्लाता-काटता है । स्वभावोक्ति ॥१२५॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

जीवातु—स इति । ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः कर्त्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः । अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा । वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवेवशब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्वचवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पिताम् (अनुकम्प्रताम्) प्रपद्य तं नृपम् ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः इव पतगग्रहात्-न्यवारयत् ।

हिन्दी—सहसा आतंक के कारण उड़ पड़ने वाले पक्षिगण से परिव्याप्त सरोवर उछलते जल के रूप में उत्सुकता प्रकट करता दयाभाव को प्राप्त हो उस राजा को मानों तरंगों से चंचल जलज रूप हाथों से हंस के ग्रहण से रोकने लगा (निषेध करने लगा)।

टिप्पणी—हंस के पकड़े जाने पर स्वाभाविक रूप आतंकित पक्षी जब सहसा उड़ पड़े और इस कारण जल हिल गया और उसमें बनती लहरों द्वारा कमल भी चंचल हो उठे, जिनको राजा को हंस पकड़ने का निषेध करते सरोवर के हाथों के रूप में संभावना की गयी है। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में रूपक-उत्प्रेक्षा का तथा चंद्रकलाकार ने उपमा-उत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक-स्वभावोक्ति का संकर है ॥१२६॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७ ॥

जीवातु—पतत्त्रिणेति। रुचिरेण पतत्त्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलद्भ्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज। यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

अन्वयः—रुचिरेण पतत्त्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं विहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज।

हिन्दी—(उस) मनोहर पक्षी (स्वर्णहंस) से रहित उस सर को छोड़ कर जाती लक्ष्मी के गमन करते चरण-कमल में पहिने नूपुरों से समानता करती कलहंसों की मंडली तीर पर शब्द करने लगी।

टिप्पणी—मनोरम हंस के न रहने से तालाब की मानो श्री-शोभा ही समाप्त हो गयी। आतंकित तीरवर्ती साथी कलहंस कूजने लगे। इस पर सरः-श्री के पैर के बजते मंजीरों की सुन्दर कल्पना की गयी है। कवि ने प्र+या

+ शतृ + ङीप् + षष्ठी = 'प्रयान्त्याः' के वर्तमानकालिक प्रयोगद्वारा श्री के प्रत्यागमन का संकेत किया है। मल्लिनाथ ने यहाँ संभावनालक्षक उपमा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। और चंद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा के अंगांगि-भाव संकर का। विद्याधरने यहाँ अनुप्रास-उपमा-स्वभावोक्ति का संकर माना है।

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

जीवातु--नेति। इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः ! यस्या वसुधाया उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिघारकः त्वं पतिः पालकः, इत्थं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैः-रुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु। उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

अन्वयः--'अङ्ग यस्याः ईदृशः उज्झितस्थितिः त्वं पतिः (सा) वसुधा वासयोग्या न'--इति क्षितिं प्रहाय नभः आश्रिताः खगाः तम् आरवैः आचुक्रुशुः खलु।

हिन्दी--'ए राजा जिस धरती का ऐसा मर्यादा छोड़देनेवाला तू स्वामी है, वह धरती रहने योग्य नहीं है'--इस प्रकार धरती को छोड़कर आकाश में उड़ गये पक्षी शब्द करते हुए मानो राजा की निंदा करने लगे।

टिप्पणी--जिस धरती का स्वामी मर्यादारहित आचरण करने लगे, धन-धान्य से परिपूर्ण होने पर भी उस सोपद्रवा धरती पर सज्जन नहीं रहते, उस भरी-पूरी धरती से सूना आकाश ही भला। स्वभावतः उड़कर मँडराते-चिल्लाते हंसों के माध्यम से यह संभावना की गयी है। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥१२८॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

जीवातु--नेति। इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्न-सौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः। इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन

मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः। अवादि उक्तः। वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—'अथ इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा'—इति मुहुः स्तुवन् सः जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि।

हिन्दी—तत्पश्चात्, 'सोने के पंख होने से उत्पन्न ऐसी सुन्दरता मैंने पक्षी की नहीं देखी'—इस प्रकार हंस की (विचित्र सौंदर्य की) वारंवार प्रशंसा करते उस नरनाथ से हाथ के पिंजरे में पकड़ा वह मानसरवासी हंस बोला।

टिप्पणी—हंस की अपरूपता पर मुग्ध राजा का वर्णन। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-रूपक अलंकार हैं, चंद्रकलाकार ने यमक का उल्लेख किया है ॥१२९॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१३०॥

जीवातु—तदेव चतुर्भिराह–धिगित्यादि। हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्त्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भत्सननिन्दयोरि' त्यमरः। 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया। तुषारशीकरैः हिमकणैर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वयः—हेमजन्मनः मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मनः धिक् अस्तु, तुषारशीकरैः अर्णवस्य इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत्।

हिन्दी—हे नल, मेरे सोने के पंखों को देखकर तृष्णा से चंचल हुए तेरे मन को धिक्कार है, ओस-कणों के समान इन से सागरतुल्य तुझ में कितने जलरूप धन (कमल = जल, कमला = लक्ष्मी, धन) की वृद्धि हो सकेगी ?

टिप्पणी—नल ने हंस की 'जातरूपच्छदजातरूपता' (स्वर्णपंखो के सौन्दर्य) की प्रशंसा की, इस पर हंस ने राजा के धन-लोभ की निंदा की। लक्ष्मीपति

राजा के लिए थोड़ा-सा स्वर्ण वैसे नगण्य है, जैसे जलनिधि समुद्र को ओस की बूँदें। विद्याधर के अनुसार उपमा, चंद्रकलाव्याख्याकार के अनुसार उपमा-श्लेष की संसृष्टि ।।१३०।।

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ।।१३१।।

जीवातु—नेति। हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः। ततः किमत आह–विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्म्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ।। १३१ ।।

अन्वयः—त्वदीक्षणात् विश्वसितान्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न, विश्वासजुषां द्विषाम् अपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम्।

हिन्दी—तुम्हें देखकर जिसके मन में विश्वास जाग गया था, उस विश्वस्तमना मेरी हत्या केवल जीवहिंसा नहीं है, विश्वास को प्राप्त शत्रुओं को भी मारने की धर्मात्माओं ने विशेष निंदा की है।

टिप्पणी—विश्वासघात तो अपराधी शत्रु से भी उचित नहीं ठहराया जाता, मैं तो निरीह, निरपराध पक्षी हूँ, मेरी हत्या तो अत्यंत निन्दनीय है। विदग्धानुप्रास और काव्यलिंग का विद्याधर द्वारा उल्लेख, चंद्रकलाकार के अनुसार अर्थान्तरन्यास-अर्थापत्ति का संकर ।।१३१।।

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्य्यते ?।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ।। १३२ ।।

जीवातु—पदे पद इति। रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे–पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः। नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः ।। १३२ ।।

अन्वयः—पदे पदे रणोद्भटाः भटाः सन्ति, तेषु एष, हिंसारसः न ते नृपतेः ईदृशं कुविक्रमं धिक्, यः कृपाश्रये कृपणे पतत्त्रिणि पूर्यते ।

हिन्दी—पग-पग पर रणबाँकुरे योद्धा हैं, उनमें तेरा यह हिंसारस पूर्ण नहीं होता ? तुझ राजा के ऐसे कुत्सित पराक्रम को धिक्कार, जो दयापात्र बेचारे (निरीह) पक्षी पर पूर्णता को पा रहा है ।

टिप्पणी—निर्बल निरीह पर दिखाया गया पराक्रम निन्दनीय ही होता है, पराक्रम-प्रदर्शन तो समानबल योद्धा पर किया जाना उचित है, सो निरीह-पक्षी का वध निन्दनीय ही होगा । विद्याधर के अनुसार विदग्धानुप्रास ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

जीवातु—फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थ, हृणीयते कण्ड्वादियगन्ताल्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणा-दात्मनेपदम् । अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि हन्ते स्त्रिय इति भावः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मनेः इव यस्य मम वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तयः तस्मिन् अपि त्वया दण्डधारिणा पत्या धरणी अद्य कथं न हृणीयते ।

हिन्दी—मुनि के समान जिस मेरा जीवन-व्यापार कमलों के फलमूल-द्वारा चलता है, उस मुझ पर तुझ दंडधारी पति के कारण धरती आज क्यों लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी—कंदमूलफलाशी मुनि पर दंड उठाने वाले व्यक्ति के कारण उसकी पत्नी का लज्जित होना ही स्वाभाविक है, ऐसी ही स्थिति उस समय पृथ्वीपति की थी । विद्याधर ने यथासंख्य और उपमा अलंकार का निर्देश किया है ।

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

जीवातु— इतीति। इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः। पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वाकाङ्क्षोद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शनेन तन्निवर्त्तनेच्छा वा कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृतं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेशः। दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः॥ १३४॥

अन्वयः—सः खगः इति ईदृशैः वाङ्मयैः तं नृपं सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगाः गिरः अतियीचकार।

हिन्दी— उस पक्षी (हंस) ने इस प्रकार के उपर्युक्त वचनों द्वारा उस राजा को विस्मय, दुःख और कृपा से पूर्ण बनाकर दया के सागर रूप उसके हृदयमें करुणारस की नदी रूप वाक्समूह का प्रवेश कराया।

टिप्पणी—नल के द्वारा पकड़े हंस ने पूर्व (१२८–१३३) छः श्लोकों में जो तर्कसंमत और न्यायसिद्ध वचन कहे, वे प्रत्येक सज्जन को विचार करने में विवश करने के निमित्त पर्याप्त थे, फलस्वरूप राजा को इस प्रकार की मानवोचित वाणी और विचार पर आश्चर्य, स्वाभाविक करुणा और खेद हुआ और हंस ने इस प्रकार की स्थिति देख उपयुक्त समझा कि राजा की करुणा को तीव्र बनाया जाय। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और रूपक, चंद्रकलाकार के अनुसार श्लिष्टपरम्पित रूपक ॥। १३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥१३५॥

जीवातु—तावदिंगरः प्रपञ्चयति—मदित्यादिना। तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः। जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्य्या हंसस्य 'योषिद्वरटे'त्यमरः। नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एव जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन्

हे विधे ! विधातः ! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, वरटा नवप्रसूतिः तपस्विनी; एषः जनः तयोः गतिः, अहो विधे, तम् अर्दयन् त्वां करुणा न रुणद्धि ।

हिन्दी—मैं ही जिसका एक पुत्र हूँ, ऐसी मेरी माता बुढ़ापे से पीडित है, मेरी पत्नी को अभी निकट अतीत में ही प्रसव हुआ है, वह दीना है, यह जन (मैं हंस) ही उन दोनों का जीवन-साधक हूँ, अरे विधाता, उस (मुझे) को पीडा देते—मारते तुझे करुणा नहीं रोकती ?

टिप्पणी—राजा के हृदय में आश्चर्य, दुःख और करुणा जगाकर करुणा को और भी तीव्रतर बनाने के लिए विधाता को अथवा उसी मिस राजा को संबोधित करते हुए हंस ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया । अपनी माता और पत्नी का जीवनाश्रय एक मात्र वही था, इसे प्रमाणित करने के लिए अपनी माँ को विवश, बूढ़ी, पीडिता बताया, जो उस अकेले बेटे के अभाव में निश्चय ही मर जायेगी । उसकी पत्नी बूढ़ी तो नहीं है, परन्तु 'नवप्रसूति' होने से वह भी अच्छी स्थिति में नहीं है, पतिव्रता होने से वह मेरे बाद दूसरा पति भी नहीं ढूँढ़ लेगी, सो उसकी भी दुर्गति होगी । ऐसे माँ और पत्नी के एक मात्र आश्रय को मारने में मारक के हृदय में करुणा न उत्पन्न होना ही आश्चर्य है । यद्यपि आगे उसका सन्दर्भ नहीं बैठता, तथापि 'प्रकाश'-कार ने अन्य प्रकार से पदच्छेद करके इस श्लोक में एक अन्य अर्थ की संभावना भी दिखायी है । उनके अनुसार हंस ही अपने एक मात्र नवजात पुत्र और नवप्रसूता भार्या का आसरा है—मदेकपुत्रा (मत्तः एकः पुत्रो यस्याः सा, मुझसे ही जिसे एकमात्र पुत्र जन्मा है), अजननी (आगे वह 'जननी' न बन सकेगी) । यह ठीक है कि अभी वह बूढ़ी नहीं है—'जरातुरा न' परन्तु वह 'तपस्विनी वरटा' (वह बेचारी दीन घरनी) मेरे न रहने से यदि कहीं शरण पासकेगी तो वप्र अर्थात् पर्वतशिखर पर ही—वप्र एव सुतराम् ऊतिः रक्षणं यस्याः सा। विद्याधर के अनुसार परिकर अलंकार क्योंकि यहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग है—उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरः ॥१३५॥

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

जीवातु—अथ मातर शोचयति–मुहूर्त्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—मम दयासखाः सखायः भवनिन्दया मुहूर्तमात्रं स्रवदश्रवः निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं मातः त्वया सुतशोकहागरः दुस्तरः एव ।

हिन्दी—दयालु मेरे मित्र संसार की निन्दा करते मुहूर्त भर आँसू गिरा शोक-निवृत्त हो लेंगे, पर हे माँ, तुझ से पुत्र-शोक का समुद्र दुस्तर ही होगा, अर्थात् न तरा जा सकेगा ।

टिप्पणी—माँ के दुःख की संभावना दिखाकर करुणोद्बोधन करानेवाले वचन । अनुप्रास-रूपक अलंकार ॥१३६॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ॥

जीवातु—अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति–मदर्थेत्यादिना । हे प्रिये ! मह्य-मिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिकबिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे देशे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः । अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः । कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

अन्वयः—प्रिये, मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूरे—इति त्वया उदिते अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्याः तव स क्षणः कीदृक् भविता ?

हिन्दी—हे प्रिये, मेरे निमित्त समाचार और कमलनाल भेजने-लाने

विलम्ब लगाने वाला मेरा प्रिय कितनी दूर है,--इस प्रकार तेरे पूछने पर (उत्तर में) रोते पक्षियों को विलोकती तेरा वह क्षण कितना कष्टकारक होगा ?

टिप्पणी—पानी के संभावित दुःख का मर्मस्पर्शी चित्रण। वह क्षण पत्नी के लिए वज्रपात-तुल्य ही होगा। भावोदय अलंकार ॥१३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥ १३८ ॥

जीवातु—कथमिति। हे विधातः ! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः। मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अतएव ललाट तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खल्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता ? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते'ति ॥ १३८॥

अन्वयः—विधातः, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः तव पाणिपङ्कजात् मयि वल्लभया वियोक्ष्यसे--इति ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता ?

हिन्दी—हे विधाता, प्रिया की शीतलता और मृदुता के शिल्पी तेरे कर-कमल से मेरे विषय में ललाट को तपाने वाले निष्ठुर अक्षरों-वाला ऐसा लेख कि तू प्रिया से वियुक्त होगा, कैसे निकला ?

टिप्पणी—जो हाथ शीतलता और कोमलता का शिल्पी है, कमल के समान शीत और मृदु है, आश्चर्य है कि विधाता के उसी हाथ ने प्रिया-वियोग जैसा तापदायक और कठोर लेख हंस के भाग्य में लिखा, कारण के गुण कार्य में क्यों नहीं आये ? कैसी विसंगति है ? विषम और रूपक अलंकार। विषम—कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः। तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम्।—रुद्रट ॥१३८॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥

जीवातु—अपीति । अपि चेत्यपेरर्थः । अद्यास्मिन् दिने 'सद्यःपरुदि'त्यादिना निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्घवरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्त्तां उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणं, हे लोलाक्षि ! दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, वतेति खेदे ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अपि अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम वृत्तान्तम् उदिता लोलाक्षि, असंशयं दश अपि दिशां मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि बत !

हिन्दी—और आज अपने दल के साथी हंसों द्वारा वज्राघात के समान मेरा वृत्तांत कहे जाने पर खेद है, कि हे चंचल नयनों वाली, निःसंदेह दशों ही दिशाओं के मुख तुझे सूने दिखायी पड़ेंगे ।

टिप्पणी—वज्र का हृदय भी द्रवीभूत करने वाले और पत्थर को भी मोम कर देने वाले स्वाभाविक करुणा जागरित करनेवाले वचन । अनुप्रास और उपमा ॥१३९॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

जीवातु—ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे ! मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्त्तहि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः । कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

अन्वयः—चित्राङ्गि, यदि मम शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते, हा, तद, दैवेन हतः स्फुटः हतः अस्मि, यतः ते शिशवः परासवः ।

हिन्दी—हे सुन्दर शरीर वाली, यदि मेरे शोक में वक्ष फट जाने से तू भी मर जायेगी, हाय, तो दैव द्वारा मारा मैं और मारा जाऊँगा, क्योंकि तेरे बिना तेरे छोटे बच्चे भी मर जायेंगे ।

टिप्पणी--करुणा को तीव्रतर करनेवाला तर्क। करुण रस, काव्यलिंग अलंकार ॥१४०॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

जीवातु--ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह--तवापीति। हे प्रिये! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः। विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियामि'त्यमरः। विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

अन्वयः--हा हा, बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धा। अस्फुटितेक्षणाः मम तव अपि विरहात् क्षुधा आकुलाः तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः।

हिन्दी—हाय, बहुत से मनोरथ करके चिरकाल में प्राप्त जिनकी अभी आँखें भी नहीं खुल पायी हैं, ऐसे मेरे और तेरे न रह जाने से भूख से व्याकुल (वे छोटे-छोटे बच्चे) नीड के भीतर लोटते क्षण में मृतप्राय हो जायेंगे।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक के संदर्भ में यह श्लोक भी है। नवजात पक्षिशावकों की दृष्टि ठीक से देखने योग्य नहीं होती—'अस्फुटितेक्षणाः' बच्चों के बहुत छोटे होने का द्योतक है। 'गताः' का अर्थ 'गये' होता है, पर जो 'अस्फुटितेक्षणाः' हैं, वे 'गताः' कैसे हो सकते हैं? विरोध-परिहार में 'गताः' का अर्थ हुआ 'मृतप्राय'। कदाचित् इसी के आधार पर विद्याधर ने यहाँ विरोधाभास अलंकार का उल्लेख किया है। करुण रस ॥१४१॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ?।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

जीवातु—सुता इति। हे सुताः! चूङ्कृतैश्चूङ्कारश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत। कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त

इत्यर्थः । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्रुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ।: १४२ ॥

अन्वयः--सुताः, चूङ्कृतैः चिराय कम् आहूय-कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम्,—इति प्रमील्य सः स्रुतस्य नृपाश्रुणः सेकात् बुबुधे ।

हिन्दी—पुत्रों, चें-चें करके चिरकाल तक किसे बुलाकर और किसकी ओर चंचल मुख करके कथामात्रावशेष हो जाओगे ?—ऐसा कह मूर्च्छित हुआ वह हंस राजा के टपकते आँसुओं के सिंचन से बोध को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—अपने बच्चों की संभावित दुर्दशा पर विचार करते-करते हंस मूर्च्छित हो गया, जिससे दयाशील नल के आँसू टपकने लगे, जो हंस पर गिरे और उनके कारण उसकी मूर्च्छा छूटी । पक्षिशावक चें-चें बोलते त्वरापूर्वक अपने जननी-जनक से चोंच बढ़ाते-खोलते भोज्य ग्रहण किया करते हैं । उन दोनों के दिवंगत हो जाने पर चिल्लाते-चिल्लाते थक कर बच्चों का कथावशेष-मृत हो जाना ही स्वाभाविक है । करुणरसपोषिका उक्ति । जाति अथवा स्वभावोक्ति अलंकार ॥१४२॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

जीवातु--अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह–इत्थमित्यादिना । इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै यदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान् । 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥१४३॥

अन्वयः—इत्थं विलपन्तम् अमुं दीनदयालुतया अवनिपालः—रूपम् अदर्शि यदर्थं धृतः असि,--इति अभिधाय अमुञ्चत् ।

हिन्दी—इस प्रकार विलपते इस (हंस) को दीनों पर दयालु होने के कारण पृथ्वीपाल ने यह कहकर कि तुम्हारा रूप दिख गया, जिसके निमित्त तुम्हें पकड़ लिया था--हंस को छोड़ दिया ।

टिप्पणी—करुणा-गलित हो जो धरती मात्र का पालनहार था, वेचारे हंस को कैसे बन्धन में रख सकता था? अनुप्रास की छटा। दोधक वृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं, तीन भगण (ऽ।।) और अंत में दो गुरु—'भमभाः गौ' ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

जीवातु—आनन्देति। हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाञ्जनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः। प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृताः नेत्रपयः प्रवाहाः वाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दवाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नवभेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग' इति लक्षणात्। सर्गान्तित्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी-'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यःवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥' इति ॥ १४४ ॥

अन्वयः—सः चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गलित नेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दाश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे।

हिन्दी—उस (मुक्त हंस) ने चक्राकार मँडराने के व्याज से मानो आरती उतारते अपने बांधवों (साथी हंसों) के पहिले शोक के कारण टपकती अश्रुधार को हर्षोत्पन्न नयनजलधार से अनुगमित होती बनाया।

टिप्पणी—साथी के द्वारा-मुक्त होने पर बन्धुजन प्रायः आरती उतारा करते हैं। हंस के बन्धन में पड़जाने से आकाश में (१२७वें श्लोक के अनुसार) मंडलाकार मँडराती जो हंसमंडली शोक के आंसू गिरा रही थी, वह अब प्रसन्न हो आनन्दाश्रु बहाने लगी, अर्थात् बंधन पर कष्ट पा रही थी,

साथी के मुक्त होने पर प्रमोद से भर उठी। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास-अपह्नुति-जाति की संसृष्टि है। 'नैषधीयचरित' के प्रत्येक कथा के समाप्ति श्लोक में 'आनन्द' शब्द आता है, जैसे इस श्लोक का आरम्भ ही 'आनन्द' शब्द से है, ऐसे ही प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में कहीं न कहीं आयेगा, इसलिए इस महाकाव्य को 'आनन्दाङ्क' कहा जाता है। वसंततिलका वृत्त, जिसका का लक्षण है--तगण (ऽऽ।), भगण (ऽ।।), दो जगण (।ऽ।) और अंत के दो (ऽऽ) गुरु अक्षर,--१४ अक्षरों का एक चरण ।।१४४।।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महाः
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ।। १४५ ।।

जीवातु—अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह-श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छे ष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यच्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।।१४५।।

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ।। १ ।।

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः।

हिन्दी—कविराज समूह के मुकुट के अलंकार 'हीरक' के तुल्य श्रीहीर (पिता) और मामल्लदेवी (माता) ने जिस इंद्रयिविजयी श्रीहर्ष पुत्र को जन्म दिया, उस श्रीहर्ष को चिंतामणिमंत्र के अनुध्यान जपादि के फलरूप शृङ्गार की भंगिमामय उक्तियों से चारु बने नैषधीय चरित्र महाकाव्य का यह आदि सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—यह परिचय-श्लोक है, जो प्रत्येक सर्ग के अन्त में है। चिंतामणिमंत्र के अनुध्यान से श्रीहर्ष को कवित्व शक्ति प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख 'नैषधीयचरित' के 'अवामावामार्धे' (१४।८८) श्लोक में है। 'वैदग्ध्यमङ्गी-मणिति' ही 'वक्रोक्तिजीवित' कार के अनुसार काव्य है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-रूपक-अलंकार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में उन्नीस अक्षर होते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), दो तगण (ऽऽ।), अन्तिम गुरु (ऽ) ॥१४५॥

नैषधीयचरित के प्रथमसर्ग में 'चन्द्रिका' हिन्दी-व्याख्या समाप्त।

॥ श्रीः ॥

नैषधमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित-

सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

जीवातु—अधिगत्येति। अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः। जगत्यधीश्वरात् क्ष्मापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्षमायामि'ति विश्वः। पुरुषोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्तिं मोचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादेर्वाङ्मनसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दतालभत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्नं श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः। अस्मिन् सर्गे एकशतश्लोकपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम्। 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सः द्विजः ततः जगत्यधीश्वरात् पुरुषोत्तमात् मुक्तिम् अधिगम्य यः वचसाम् अपि गोचरः न तम् आनन्दम् अविन्दत।

हिन्दी—तदनन्तर जिस प्रकार द्विज (विप्र) उस संसार के स्वामी पुरुषोत्तम हरि विष्णु से संसार-मोक्ष पाकर वाणी से भी अवर्णनीय परमानन्द को प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस द्विज (पक्षी हंस) ने उस संसार के

अधिपति (राजा) पुरुषश्रेष्ठ नल से छुटकारा पाकर जिसका वर्णन वाणी (शब्दों) से भी नहीं किया जा सकता, उस आनन्द को प्राप्त किया।

टिप्पणी—आनन्द की अनुभूति को अत्यन्त सुखद प्रकट करने के निमित्त उसकी अवाङ्मनोगोचर मोक्ष के आनन्द से समता की गयी है। इस सर्ग में इस श्लोक से लेकर १०१ वें श्लोक (अमृतद्युतिलक्ष्म) तक 'वियोगिनी' छंद है, जिसके प्रथम-तृतीय चरणों में दस अक्षर इस क्रम से होते हैं—दो सगण (।।ऽ), एक जगण (।ऽ।), दसवाँ अक्षर गुरु (ऽ) तथा द्वितीय-चतुर्थ में ग्यारह अक्षर इस क्रम से रहते हैं—एक सगण (।।ऽ), एक भगण (ऽ।।), एक रगण (ऽ।ऽ), एक लघु, एक गुरु (।ऽ)। 'प्रकाशकार' ने इसे 'वैतालीय' छंद कहा है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और श्लेष अलंकार हैं, मल्लिनाथ इसमें श्लेष न मानकर अर्थान्तर प्रतीति के कारण 'ध्वनि' ही मानते हैं। उनका कथन है कि अभिधा से प्रकृतार्थ मात्र का नियंत्रण होता है अतः श्लेष संभव नहीं और मुख्यार्थ-बाध के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः व्यंजना के आश्रय से ही इष्टार्थ-प्रतीति होगी ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

जीवातु—अधुनीतेति। स खगो हंसः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां नृपकरपीडनादुद्बुद्ध्य पतत्रीकृतां 'पतत्रश्च तनूरुहमि'त्यमरः। तनुं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नञ्समासे नलोपप्रसङ्गः। अधुनीत धूतवान्। धूञः क्र्यादेर्लङिति तङ्, 'प्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्वः। किञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः, पक्षमूलमि'त्यमरः चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत् विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः। एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः खगः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां तनुम् एकधा न अधुनीत। करयन्त्रणदन्तुरान्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिखत्।

हिन्दी—उस विहंग (हंस) ने अपने रोमाञ्चित शरीर को अनेक प्रकार से कम्पित किया राजा के द्वारा पकड़े जाने से ऊँचे-नीचे मध्य भाग वाले पंखों को चोंच से सहलाकर बराबर किया।

टिप्पणी—पकड़ से छूटे पक्षी की क्रिया का स्वाभाविक वर्णन। स्वभावोक्ति ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

जीवातु—अयमिति। अयं हंसः स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षतेः पक्षमूलस्याधिमध्यं मध्ये ऊर्ध्वगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कर्षितचूडः सन् आलयं निजावासं शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

अन्वयः—अयं स्खलनक्षणे एव पक्षतेः अधिमध्योर्ध्वंगजङ्घम् एकतमेन अङ्घ्रिणा द्रुतकण्डूयितमौलिः आलयं शिश्रिये।

हिन्दी—वह हंस छूटते क्षण ही पंखों के मध्य से जंघा ऊर्ध्वगामिनी कर (पक्ष मूल के बीच से ऊपर को जंघा करके) एक पैर से जल्दी-जल्दी सिर खुजलाता हुआ अपने घोंसले में जा बैठा।

टिप्पणी—यह भी पक्षिस्वभाव है। यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार ॥३॥

स गरुद्वनदुर्गदुग्रहान् कटु कोटान् दशतः सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

जीवातु—स इति। पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यान् कटुतीक्ष्णान्दशतः दन्तैस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्त्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोटचा अग्रेण कुट्टनैः घुट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति' ह्रस्वः। नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितञित' इत्यात्मनेपदम् ॥४॥

अन्वयः—पण्डितः सः क्वचित् सतः गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशतः कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः तनुकण्डु नुनुदे।

हिन्दी—उस चतुर पक्षी ने यत्र-तत्र स्थित पंख-रूप वन-दुर्ग (अथवा पक्षसमूह रूप दुर्ग) में छिपे रहने से कठिनता से हाथ आने वाले पीड़ादायक

रूप में काटते कीड़ों को कीड़ा आदि खोंदने में अत्यन्त उपयोगी चोंच की नोक से मार-मार कर हटा खुजली को कुछ दूर किया।

टिप्पणी--दुर्जय दुर्ग में जा छिपे शत्रु को पकड़ कर उसका वध किया जाता है, तभी उपद्रव मिट पाता है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास, स्वभावोक्ति और श्लेष अलंकार, चंद्रकलाकार के अनुसार रूप, स्वभावोक्ति की संसृष्टि ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्य्यव्रियताथ शङ्कितैः।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

जीवातु—अयमिति। अयं हंसस्तडागनीडजैः सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः 'नीडोद्भवा गरुत्मन्त' इत्यमरः। लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्य्यव्रियत परिवृतः, वृणोतेः कर्मणि लङ्। अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकर-पीडनजन्याद्विकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः शङ्कितैश्चकितैः अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनम् डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

अन्वयः--तडागनीडजैः लघु एत्य अयं पर्यव्रियत, अथ अस्य करग्रहजात् वैकृतात् शङ्कितैः विकस्वरस्वरैः उड्डीयत।

हिन्दी--सरोवर के घोंसलों में उत्पन्न पक्षियों (हंस आदि) ने तुरन्त आकर उस (हंस) को चारों ओर से घेर लिया, तदनन्तर हाथ से पकड़े जाने के कारण उत्पन्न उसकी विकृति से आशंकित हो ऊँचे स्वर में कोलाहल करते वे उड़ गये।

टिप्पणी—'प्रकाश'-कार के अनुसार तीर्थों पर आये व्यक्ति को भी पंडे-पुजारी घेर लिया करते हैं और फिर झगड़ा करते, चिल्लाते हट जाया करते हैं। विद्याधर ने इसमें जातिरुक्तिलेशानुप्रास अलंकार का उल्लेख किया है और 'करग्रहजात्' को श्लिष्ट माना है। चंद्रकलाकार ने स्वभावोक्ति का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

जीवातु—दधत इति। अथ स खगो हंसः बहुशैवला भूरिशैवला क्ष्मा भूर्यस्य तद्बहुशैवलक्ष्म तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानस्य नलस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ, कोकनदन्तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु। अत्र बहुशैवलेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनदभ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ६॥

अन्वयः—सः खगः बहुशैवलक्ष्मतां दधतः (वहतः) सरसः नलस्य (बहुशैवलक्ष्मतां दधतः) धृतरुद्राक्षमधुव्रतं करं कोकनदभ्रमात् इव पुनः ययौ।

हिन्दी—वह (हंस) प्रचुर सिवार घास से ढकी धरती को धारण करते सरोवर से (अनेक शिवभक्ति-सूचक अथवा शिव अर्थात् शुभ-सूचक चिह्नों से युक्त) रुद्राक्ष रूप भ्रमरों को नियमतः धारण करते नल के हाथ में (रुद्राक्षों के तुल्य भौरों से युक्त) मानों लाल कमल के भ्रम से पुनः पहुँच गया।

टिप्पणी—राजा शैव होने के कारण हाथ में रुद्राक्ष धारण किये रहता था, वर्ण-साम्य के आधार पर उनकी समता कोकनद पर बैठे भ्रमरों से की गयी है। प्रकाशकार ने 'रवणं रुत् धृता रुद्यैस्ते धृतरुतः सशब्दाः, रः अग्निस्तद्वदक्षीणि पिङ्गलानि नेत्राणि येषां ते राक्षाः एवंभूता भ्रमरा यत्र' यह विग्रह करके 'भन-भन करते पिंगल नेत्र भ्रमरों से युक्त' अर्थ भी किया है। नल के पक्ष में 'रुद्रस्य अक्षमान् धुनोति रुद्राक्षमधु तच्च तद्व्रतं च धृतं येन' यह विग्रह करके राजा के हाथ को 'शिवद्रोही को पराभव देने वाला' बताया है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ शब्दश्लेष-उपमा-उत्प्रेक्षा का संकर है। 'इव' के कारण 'भ्रम' की उत्प्रेक्षा हो गयी है, अन्यथा 'भ्रान्तिमान्' अलंकार स्पष्ट है।

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः॥ ७॥

जीवातु—अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते—पतग इति। पतङ्गो हंसश्चि-

रकाललालनादुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि' त्यमरः। अवापितः प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छे-दिति भावः। किञ्च एतस्य महीभुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षावृत्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्ति-लतण्डुलवत् संसृष्टिः। 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि सङ्ख्यानियम-मुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः॥' इति॥ ७॥

अन्वयः—चिरकाललालनात् नु अति विस्रम्भम् अवापितः सः पतगः एतस्य महीभुजः भुजं भजन् अतुलं कुतूहलं विदधे।

हिन्दी—निश्चयतः बहुत समय तक सांत्वनादि पाने से अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हुआ वह पक्षी उस पृथ्वीपति की भुजा में आकर अत्यन्त कुतूहल को उत्पन्न कर रहा था।

टिप्पणी—राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर उद्धारार्थ रुदन करता हंस छूट कर फिर से उसकी पकड़ में स्वयम् आ गया है, यह निश्चय ही राजा के प्रति हंस के विश्वास और अभय के कारण हुआ। यह कुतूहलजनक भी था ही। क्या कारण है स्वयं हंस के लौट कर आने का? इस श्लोक में तिल-तण्डुलवत् स्थित उत्प्रेक्षा-वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि है। कुतूहलोत्पत्ति में भुजहेतुता मानते हुए पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का चंद्रकलाकार ने निर्देश किया है॥ ७॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत॥ ८॥

जीवातु—नृपमानसमिति। इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनः कर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कुल्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्यृतश्चे'ति कप्। रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान्। जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत्कर्ण शष्कुली-कलस्याविव्युपमारूपकयोः संसृष्टिः।

अन्वयः—कुतुकामृतोर्मिषु निमज्जत् नृपमानसम् अवलम्बितकर्णशष्कुली-कलसीकं रचयन् इष्टमानसः सः अवोचत।

हिन्दी--कुतूहलरूप अमृतलहरियों में डूबते राजा के मानस को कर्णविवर रूप कलसों का सहारा देता मानसरोवर-प्रिय वह (हंस) बोला।

टिप्पणी—राजा का मन, मानस-मानसरोवर है, विचित्र है कि 'मानसर' ही लहरियों में डूब रहा है। डूबते व्यक्ति को बचाने के लिए कलसों—घड़ों का सहारा अपेक्षित होता ही है। भाव यह है कि राजा के कुतूहल को शांत करता हंस बोला। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में उपमा रूपक की संसृष्टि है, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक का निर्देश किया है और 'अमृत' को 'श्लिष्ट' कहा है। चंद्रकलाकार ने 'मानस' की द्विरुक्ति के आधार पर कदाचित् यमक का भी उल्लेख किया है। विरोधाभास भी है—'नृपमानस' में 'मानस' का अर्थ 'सरोवर' न करके परिहारार्थ 'मन' करने से ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

जीवातु—मृगयेति। धर्मागममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरिव 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति गमेर्डप्रत्ययः। नृपैर्मृगया आखेटो न विगीयते न गर्ह्यते। तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदयेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाधिक इति यावत् धर्म्मः सुकृतम्। न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—धर्मागममर्मपारगैः नृपैः अपि मृगया न विगीयते, स्मरसुन्दर ! यत् माम् अत्यजः सः तव दयोदयोज्ज्वलः धर्मः।

हिन्दी--धर्मशास्त्रों के मर्म में पारंगत नृप भी आखेट की निन्दा नहीं करते, हे काम के समान सुन्दर (अथवा 'स्मर + सुन्दर' पदच्छेद करके 'हे सुन्दर, स्मरण कर') जो तूने मुझे छोड़ दिया, वह तेरा करुणा की उत्पत्ति से उज्ज्वल धर्म है।

टिप्पणी- क्षत्रियों के लिए मृगया स्वाभाविक है, वह निन्दनीय नहीं होती, करणीय ही मानी जाती है। राजा ने जो हंस का आखेट नहीं किया, यह उसके करुणापरायण होने का सूचक है। राजा तन से ही सुन्दर नहीं, अंतःकरण से भी शुद्ध था। काव्यलिंग अलंकार ॥ ९ ॥

अवलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।
अनवद्यतृणार्द्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥ १० ॥

जीवातु—ननु प्राणिहिंसा कथं न विगीयते तत आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो झषाः 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मोक्षफलभक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्द्दिनः अनपराधितृणहिंसकान् मृगान्, 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति मनुस्मृत्या तरुतृणादीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैवेति भावः । सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः, घ्नतां हिंसतां भूभृतां मृगया अघाय पापाय न भवति । तद्वधस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अबलस्वकुलाशिनः झषान्, निजनीडद्रुमपीडिनः खगान्, अनवद्यतृणार्दिनः मृगान् घ्नतां भूभृतां मृगया अघाय न ।

हिन्दी—अपने कुल के निर्बल मीनों को खा जाने वाले मत्स्यों, अपने ही घोंसले—वृक्ष को गन्दा करनेवाले पक्षियों और निरपराध तृणांकुरो को खाने वाले पशुओं को मारने वाले पृथ्वीपालकों की मृगया पापनिमित्तिका नहीं होती ।

टिप्पणी—कहावत है—'छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है' । पक्षी भी जिस वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, उसके फल-फूल खा जाते हैं, बीट आदि करके गन्दा करते हैं । बेचारे तृण, घास आदि का क्या दोष है कि मृगादि उनका विनाश किया करते हैं । पृथ्वीपालक यदि ऐसे कुलघाती, देशघाती और निर्दोष-हंताओं को दंड देता है, तो उचित करता है । ये सब राजाओं के मृगया-विलास का औचित्य प्रमाणित करते हैं, किन्तु नल ने सबसे बड़ा धर्म अपनाया—प्राणिमात्र पर दया, करुणा, क्षमा । विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास, काव्यलिंग, क्रियादीपक अलंकार हैं । चंद्रकलाकार ने पदार्थहेतुक काव्यलिंग और अप्रस्तुतप्रशंसा का संकर माना है ॥ १० ॥

यदवादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत् ।
कृतमातपसंज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

जीवातु—तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यदप्रियमवादिषमवोचम्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरोः कृतं स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितुं प्रमार्ष्टुमिच्छुः, नुद–प्रेरण इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः।११।

अन्वयः—यत् तव अप्रियम् अवादिषम् तत् प्रियम् आधाय तरोः कृतम् आतपसंज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अंशुमान् इव नुनुत्सुः अस्मि।

हिन्दी—जो मैंने आपको बुरा-भला कहा, उसका निराकरण मैं आपका प्रिय कार्य करके उसी प्रकार चाहता हूँ जैसे किरणमाली सूर्य वृक्षों पर धूप की ऊष्मा से उन्हें पीडित करने के पश्चात् अमृत जल बरसा कर करता है।

टिप्पणी—भविष्य में प्रिय करने का द्योतन। विद्याधर के अनुसार दृष्टांत-उपमा-परिवृत्ति अलंकार॥ ११॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्त्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः॥ १२॥

जीवातु—तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं दृष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह-उपनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहर्त्तुं न साम्प्रतम् युक्तम्। 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' इति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथं ग्राह्यमत आह-करेति। हि यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रहः करकल्पङ्करस्थानीयमित्यर्थः। ईषदसमाप्तौ कल्पप्प्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचेः शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्राप्तः न तु मत्त इति भावः। आप्नोतेः कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, अतो न याच्ञालाघवन्तवेति भावः।

अन्वयः—अयाचितम् उपनम्रं हितं तव अपि परिहर्त्तुं साम्प्रतं न हि सः प्रतिग्रहः करकल्पजनान्तरात् शुचितः विधेः प्रापि।

हिन्दी—अप्रार्थित, उपस्थित प्रिय (वस्तु) आप जैसे समर्थ राजा को भी छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि वह दान हस्तस्थानीय (हाथ जैसे) अन्य व्यक्ति (मुझ हंस) के माध्यम से शुद्ध भाग्य से ही प्राप्त हुआ है।

टिप्पणी--नल जैसे समर्थ व्यक्ति किसी से याचना नहीं करते, दान नहीं लेते, इस कारण हंस जो कुछ प्रिय देना अथवा करना चाहता है, उससे उपकृत होने में संकोच हो सकता है। इस संकोच के निराकरणार्थ हंस का यह तर्क है कि समर्थ व्यक्ति को भी भाग्यवशात् बिन-माँगे मिले अभीष्ट का ग्रहण करना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ-प्राप्ति में दैव ही कारण है, उसका परिहार कोई कर ही नहीं सकता, सो राजा को भी स्वीकारने में संकोच करना तर्कसंमत नहीं हैं। और हंस तो एक प्रकार से अदृश्य दैव का हाथ है, जिसके माध्यम से नल का प्रियसाधन हो रहा है। काव्यलिंग अलंकार ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?।
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तयः ॥ १३ ॥

जीवातु—ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह—पतगेनेति। पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पतेः सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते क्षम्यते किं न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति वेद्मि अक्षमत्वं जानामि। तदपि तथाप्यर्त्तयो यास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भावः। मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भावः ॥१३॥

अन्वयः--जगत्पतेः तव उपकृत्यै मया पतगेन किं प्रभूयते ? इति वेद्मि, तदपि अर्त्तयः तु मां प्रत्युपकर्त्तुं न त्यजन्ति।

हिन्दी--संसार के स्वामी तेरा उपकार मैं सामान्य पक्षी क्या कर सकता हूँ ? (नहीं कर सकता) यह मैं समझता हूँ, तथापि तेरा प्रत्युपकार करने की तीव्रतम आकुलताएँ मुझे नहीं छोड़तीं।

टिप्पणी--एक चक्रवर्ती नरेश का एक सामान्य निरीह पक्षी उपकार क्या करेगा ? यह तथ्य जानते-बूझते हुए भी हंस इतना विवश है राजा के उपकार का बदला देने के लिए कि प्रत्युपकार की उद्दाम इच्छा उसे पीड़ादायक प्रतीत हो रही है, इस असमर्थ-जैसे निरीह पक्षी को भी राजा के हितसाधनार्थ विवश कर रही है—प्रेरित कर रही है। हेतु और अनुप्रास ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥१४॥

जीवातु—अथवा यथाशक्तिपक्षोऽस्त्वित्याह-अचिरादिति । अथवा उपकर्त्तुरचिरादविलम्बादुपाय एवौपयिकः, विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्वत्वश्चे'ति ह्रस्वः, तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्यामित्यर्थः, 'तत आगत' इत्यण् प्रत्यये 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । उपक्रियामाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरधातोर्विधिलिङ् । इत्थमेवं सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुरल्पाऽस्तु विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न । गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थः ॥१४॥

अन्वयः—अथवा अचिरात् उपकर्त्तुः औपयिकीं क्रियाम् आचरेत्, इत्थं सा पृथुः अथ अणुः अस्तु, इह विदुषां ग्रहः न ।

हिन्दी - इसके अतिरिक्त यह भी है कि अविलम्ब उपकारक का प्रिय (प्रत्युपकार) अपने द्वारा साध्य उपाय से करे, इस स्थिति में वह कार्य बड़ा है अथवा छोटा, इसका समझदारों में कोई आग्रह नहीं होता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रत्युपकार तुरन्त करना उचित है, छोटे-बड़े की चिन्ता किये बिना अपनी शक्ति भर उपकारी का प्रिय साधन अविलम्ब करना विद्वज्जनानुमोदित है । अप्रस्तुत-प्रशंसा और छेकानुप्रास ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

जीवातु—अथ स्ववाक्ये आदरं याचते—भवितेति । हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचः मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रव्यं श्रोतव्यम् । इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः कीरगीः शुकवागिव मुदं किं न दास्यति दास्यत्येव । प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः, ददातेः लृट् ॥ १५ ॥

अन्वयः—इदं मदीरितं विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रव्यम्, इयं खगवाक्, इत्यतः अपि कीरगीः इव किं मुदं न दास्यति ?

हिन्दी--यह जो मेरा कथन संभव है विचार करने पर सुन्दर न प्रतीत हो, तथापि सुनना तो उचित ही है, 'यह पक्षी की वाणी है'—इससे भी क्या तोते की वाणी के तुल्य आनन्द न देगी ? (देगी ही) ।

टिप्पणी--भले ही हंस का कथन मीमांसा करने पर महत्त्वपूर्ण न प्रतीत हो, तथापि राजा को इस कारण ही सुन लेना चाहिए कि तोते के समान यह हंस भी मनुष्य की वाणी बोल रहा है। मनुष्य-भाषा बोलते हंस को सुनना अमहत्त्व का होने पर भी एक सुन्दर आश्चर्य की तुष्टि तो करता ही है। उपमा और अनुप्रास ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यद्वक्तव्यं तदाह–स इति। अर्थेन अभिधेयेन सह वर्त्तत इति सार्थकम्, 'तेन सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सह-शब्दस्य विकल्पात् सभावः 'शेषाद्विभाषे'ति कप् समासान्तः, ततश्च्वरभूत-तद्भावे। अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः च प्रसिद्धः बिभ्यत्यस्मादिति भीमः 'भियो म' इत्यपादानार्थे निपात-नान्मप्रत्यय औणादिकः, भीम इति भूपतिः नृपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते खलु। विदर्भभूर्विदर्भदेशः यं भूपतिं प्रभुं भर्त्तारमवाप्य शक्रो भर्त्ता यस्यास्तां शक्रभर्तृकां 'नद्यृतश्चे'ति कपि द्यान्दिवमपि हसति, किमुतान्यभर्तृ-कदेशानित्यर्थः। स्त्रियो हि भर्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः। अत्र विदर्भ-भुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अरिसार्थकीकृतनामा सः भीमभूपतिः जयति किल, यं प्रभुम् अवाप्य विदर्भभूः शक्रभर्तृकां द्याम् अपि हसति ।

हिन्दी--शत्रुओं के दल में जिसने (भयंकर युद्ध करके अपना भीम) नाम सार्थक कर दिया है, वह भीम-भूपाल सर्वथा जय प्राप्त करे, जिसको स्वामी पाकर विदर्भ की भूमि इन्द्र जिसका स्वामी है, ऐसी स्वर्गभू का भी उपहास करती है ।

टिप्पणी—विदर्भ भूमि का स्वामी भीम पराक्रमी शासक है, वह प्रजा-रंजक भी है, समृद्ध भी है, जिसके सम्मुख इन्द्र और उसकी स्वर्ग भूमि भी नगण्य है। विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास और उपमा अलंकारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन के आधार पर अतिशयोक्ति का, चंद्र-कलाकार अतिशयोक्ति और अर्थापत्ति की संसृष्टि मानते हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

जीवातु—दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपास-नया प्रसन्नात् 'भाषायां सदवसश्रुव' इति सदेर्लिटः क्वस्वादेशः । दमनाद्द्म-नाख्यात् तथ्यगिरः अमोघवचनात् तपोधनाद्ऋषेः दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितययोरनन्यसदृशीं गुणोदयां कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधा-रणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप । वरत्वेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवाद्दते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ॥ १७ ॥

अन्वयः—सः अमनाक् प्रसेदुषः तथ्यगिरः तपोधनात् दमनात् दिष्टविष्टप-त्रितयानन्यसद्गुणोदयां तनयां वरम् आप ।

हिन्दी—उस (भीमभूपति) ने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता (जिनका वचन झूठा न हो) तपस्वी दमन से कालत्रय (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) और लोकत्रय (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) में जो असाधारण रूप-गुणवती है, ऐसी पुत्री का वर पाया ।

टिप्पणी—दमयन्ती अनुपम रूप गुणवती है,—यह कह कर नल की उसके प्रति उत्कंठा जागरित करने की चेष्टा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और व्यतिरेक, चंद्रकलाकार ने केवल 'दमनादमनाक्' के यमक का निर्देश किया है ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

जीवातु—अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह—भुवनत्रयेति । असौ वर-प्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन्दरीणां कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तं गमयन्ती दमेर्ण्य

न्ताद् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽव्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदे लटः शत्रादेशः। उदियाय उदिता, इणो लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधौ, दधातेर्लिट् ॥१८॥

अन्वयः—यतः असौ भुवनत्रयसुभ्रुवां कमनीयतामदं तनुश्रिया दमयन्ती उदियाय ततः 'दमयन्ती' इति अभिधां दधौ।

हिन्दी—क्योंकि यह (भीमतनया) तीनों भुवनों की सुनयनाओं के सौन्दर्य-गर्व को तन की शोभा से दमन करती उत्पन्न हुई, इससे (इसका) 'दमयन्ती'—यह नाम रखा गया।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती को त्रिलोक-सुन्दरियों में अप्रतिम बताया गया था, यहाँ उसी की एक प्रकार से पुष्टि की गयी है। विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, किन्तु त्रिलोक-सुन्दरियों से दमयन्ती की श्रेष्ठता प्रतिपादित होने के कारण चंद्रकलाकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार मानते हैं।१८।

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम्।
व्यवधावपि यां विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः॥ १९॥

जीवातु—अथैकविंशतिश्लोकैश्चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति—श्रियमिति। हे नृप! ताम् दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागरादधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं साक्षाल्लक्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्हिरि'त्यादेशे ङित्त्वान्न सार्वधातुकगुणः, संहितायाम् 'आद्गुणः' अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादाङ्प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपन्यासो वृथा। प्रक्षाल्य त्यागः 'अवैहीति वृद्धिरवद्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्त इति व्याख्यानादन्यथा 'ओमाङोश्चे'ति, पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति। न च देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह-व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः मृडचूडानिलयां हरशिखाश्रयां कलां विधोरिन्दोरेव कलां को वा न वेद? सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः, 'विदो लटो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः। यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रकलैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येषा श्रीरेवेति सौन्दर्यातिशयोक्तिः। अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ वाक्यद्वये बिम्बप्रति-

बिम्बभावेन सामान्यधर्म्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः। 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते। सामान्यधर्म्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

अन्वयः—तां परं गुणसिन्धोः धराधिपात् उदितां श्रियम् एव अवेहि, वा व्यवधौ अपि मृडचूडानिलयां विधोः कलां कः न वेद ?

हिन्दी—हे नल, आप उसे गुणों के सागर पृथ्वीपति से समुत्पन्न निश्चय रूप से लक्ष्मी ही समझिए, अथवा अन्तराय होने पर भी महादेव के मस्तक पर जिसका आवास है, उस चंद्र की कला को कौन नहीं जानता ? (सब ही जानते हैं।)

टिप्पणी—धरती की लक्ष्मी दमयन्ती के विषय में सर्वत्र ख्याति है, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सभी उसके विषय में जानते हैं, जैसे अप्रत्यक्ष महादेव की चूडालया चंद्रकला से सभी परिचित होते हैं, अतः राजा नल भी दमयन्ती के विषय में सब जानते ही होंगे। अधिक कहना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक और आक्षेप अलंकार हैं, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति और दृष्टांत, क्योंकि दमयन्ती को 'भीमभवनोदिता श्री' कहकर सौन्दर्यातिशय कथन है और 'श्री-चंद्रकला' तथा 'भीम-महादेव' सामान्य धर्म होने से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से निर्दिष्ट हैं। चंद्रकलाकार ने रूपक-दृष्टांत की संसृष्टि मानी है ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान्।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

जीवातु—चिकुरप्रकरा इति। चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, यान् वेत्तीति विदुषी विशेषज्ञा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चे'ति ङीप् 'वसोः सम्प्रसारणम्'। सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्त्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः। अतएव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु ? न कोऽपीत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ २० ॥

अन्वयः—विदुषी सा यान् मूर्द्धनि बिभर्त्ति ते चिकुरप्रकराः जयन्ति, पशुना अपि अपुरस्कृतेन चापरेण तत्तुलनां कः इच्छतु ?

हिन्दी—बुद्धिमती वह जिन्हें शिरोधार्य किये हैं, वे जयी हैं (सर्वोत्कृष्ट) हैं) केश-समूह, पशु (सुरा गाय) ने भी जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया (पृष्ठ-भाग पूँछ में रखा) उन चमरी-केशों से कौन दमयन्ती की चिकुरराशि की तुलना करना चाहेगा ? (कोई नहीं ।)

टिप्पणी—चमरी के तुलनायोग्य केशों से भी दमयन्ती के चिकुरजाल की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अद्भुत तर्क । मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिग अलंकार और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और व्यतिरेक । काकु वक्रोक्ति ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

जीवातु—स्वदृशोरिति । मृगाः हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः शोभया कर्त्र्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयो रुत्पद्यमाननिमीलनयोः स्वदृशोर्निजनयनयोः खुरैः शफैः 'शफ क्लीबे खुरः पुमानि' त्यमरः । कण्डूयनस्य कर्षणस्य कैतवाच्छलात्सान्त्वनां जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति । यथा लोके परपराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः । अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥ २१ ॥

अन्वयः—मृगाः तदखर्वेक्षणशोभया जितयोः भयात् उदयत्प्रमीलयोः स्वदृशोः खुरकण्डूयनकैतवात् सान्त्वनां जनयन्ति ।

हिन्दी—हरिण उसके विशाल नेत्रों की शोभा से विजित हो भय से मूँदे गये (तन्द्रा से निमीलित अपने नेत्रों को खुर से खुजाने के व्याज से सांत्वना देते हैं ।

टिप्पणी—हारे व्यक्ति को सहलाकर सांत्वना दी जाती है, सो मृग भी दमयन्ती के विशाल नयनों से पराजित अतएव त्रस्त हो मुंदे नेत्रों को खुर से

सहला कर सांत्वना देते हैं। तन्द्रालु मृग को खुजलाना मृग-स्वभाव है। दर्शनीय–'शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः'। (कालिदास, कुमारसंभव)। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नुति-अलंकार और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति तथा अपह्नुति, चंद्रकलाकार के अनुसार कैतवापह्नुति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा की संसृष्टि ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥ २२ ॥

जीवातु—अपीति। हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमन्त्याः लोकयुगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः, ते रमणीगुणाः स्त्रीधर्म्मा अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रे तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्म्मणी'ति विश्वः। सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति। 'आत्मनेपदेष्वनत' इति झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम्। अत्र लोकयुगादीनान्त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः। 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

अन्वयः—धरापते, दमस्वसुः लोकयुगं, दृशौ, श्रुतदृष्टाः रमणीगुणाः अपि श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी, दमस्वसा (दमयन्ती) के दोनों कुल (मातृ-पितृ कुल), दोनों नेत्र और सुने-देखे रमणीजनोचित सौन्दर्यादि गुण भी श्रुतिगामी (जगद्विख्यात मातृपितृकुल), कान तक फैले (विशाल नयन) तथा लोकवर्णन-विषय (रमणीगुण) होने से परस्पर अत्यन्त सुशोभित होते हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के मातृ-पितृकुल विख्यात हैं, वह विशालनयना, आकर्णविशालनेत्रा है, उसके नारीजनोचित रूप-गुण की चर्चा लोक-जीवन का अंग है, अनेकार्थ 'श्रुति' शब्द का प्रयोग कर कवि ने पदार्थों की उत्कृष्टता का एक ही कारण निर्देश किया है—'श्रुतिगामिता' 'श्रुत' (पुराणादि, सामुद्रिक शास्त्रादि में वर्णित) तथा 'दृष्ट' (किन्हीं सुन्दरियों में देखी गयी) जो नार्युचित विशेषताएँ हैं, वे सब दमयन्ती में हैं। इस श्लोक में 'व्यतिभाते' (वि=अति + भा) का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है, 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह 'वचनश्लेष' है, अर्थात् तीनों वचनों में एक सदृश रूप—व्यति + भा + लट् + त = व्यतिभाते (एकवचन)। व्यति + भा + आताम् = व्यतिभाताम्, 'टित आत्मने पदानां टेरे' (अष्टा ३।४।७९) से एत्व = व्यतिभाते (द्विवचन)। व्यति + भा + झः = अत् तथा पूर्वोक्त प्रणाली से एत्व (बहुवचन)। इस प्रकार एक 'व्यतिभाते' क्रिया तीनों कर्ताओं से सम्बन्धित हो गयी—(१) लोकयुगम्—एकवचन, (२) दृशौ—द्विवचन, (३) रमणीगुणाः—बहुवचन। 'व्यतिभाते' का अर्थ है कर्म-विनिमय से भासित होना। इस प्रकार पितृकुल मातृकुल से व्यतिभासित है और पितृकुल मातृकुल से, दक्षिण नेत्र की शोभा को वामनयन स्वीकारता है, वामनेत्र की दक्षिण नेत्र, जो शास्त्रों में वर्णित (श्रुत) गुण हैं, वे दमयन्ती में दृष्ट—देखे गये हैं, जो दमयन्ती में देखे जाते हैं—'दृष्ट' हैं, वे ही शास्त्रों में 'श्रुत' हैं। अथवा इन सब युग्मों की परस्पर-एक दूसरे से शोभा है—मातृकुल पितृकुल से सुशोभित है, पितृकुल मातृकुल से, इसी प्रकार दोनों नेत्र अन्योन्यतः। शास्त्रादि में 'श्रुत'—वर्णित रमणीगुणों की सार्थकता दमयन्ती में 'दृष्ट' होने से है और जो उसमें दृष्ट हैं, वे ही शास्त्रविख्यात हैं। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ वचन श्लेष-क्रियाकारक और दीपक की संसृष्टि है। चंद्रकलाकार के अनुसार वचनश्लेष-तुल्ययोगिता का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है ॥ २२ ॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥ २३ ॥

जीवातु—नलिनमिति। नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरिष्कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जनामकः पक्षिविशेषः 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' इत्यमरः। तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुमेये इत्यर्थः। 'निःस्वस्तु दुविधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः। ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥

अन्वयः—नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीम् अस्पृशती अञ्जनाञ्चिते तदीक्षणे खञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते।

हिन्दी—कमल को मलिन बनाने वाले, हरिणी की अगणना करनेवाले काजल लगे उसके नेत्र खंजन को भी सौन्दर्याभिमान से रहित बना देते हैं।

टिप्पणी—नेत्रों के प्रायः तीन उपमान हैं, कमल, हरिणनयन, खंजन। दमयन्ती के नयनों के सम्मुख तीनों हीन हैं। अन्वय भेद से इसके अन्य अर्थ भी होते हैं। 'पृषती' का अर्थ हरिणी भी है और काजल लगाने की शलाका (सलाई) भी। इस प्रकार एक यह अर्थ हुआ कि काजल की शलाका का स्पर्श किये बिना इसके विशाल कज्जल-रहित नयन कमलों को फीका कर देते हैं, अञ्जनखचित होकर तो खंजन का भी सौन्दर्य-गर्व खर्व कर देते हैं। और भी अर्थ हो जाते हैं—'मलिनं विवृण्वती' अर्थात् स्वगत श्याम गुण का दृष्टिवश प्रसार करती 'नलिन' पर भी श्यामता बिखेर कर उसे मलिन बना देती है अथवा 'मलिनं नलिनं रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते', नीलोत्पल का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देती है। 'अस्पृशती तदीक्षणे' विस्तार को अप्राप्त उसके नेत्र हरिणी का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देते हैं, कमल को मलिन कर देते हैं, जब विस्तार पाते हैं, तो शुक्ल-कृष्ण, अतिसरल, अतिचञ्चल खंजन का भी सौन्दर्याभिमान भंग हो जाता है। भाव यह है कि दमयन्ती के नेत्रों के सम्मुख कोई उपमान ठहरता नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन रूपा अतिशयोक्ति से उपमा व्यंजित होती है, अतः अलंकारध्वनि है, विद्याधर के अनुसार छेका-

नुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार हैं, चंद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-व्यतिरेक के अंगांगिभाव से संकर का उल्लेख किया है ॥ २३ ॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

जीवातु—अधरमिति । अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेपुर्यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः । अस्या दमयन्त्याः रदनच्छदम् ओष्ठमविदघत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः । बिम्बनामकं फलं बिम्बमस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमबाधितमन्वयं वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं लभते, अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भावः । अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववत् ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

अन्वयः—अधरबिम्बम् इति अदः पदम् अस्याः रदनच्छदं वदत् बिम्बनामकं फलम् अस्मात् अधरं खलु—इति भव्यम् अन्वयं लभते ।

हिन्दी—'अधर-बिम्ब' (अधर बिम्ब के सदृश है) यह पद (शब्द) इस (दमयन्ती) के ओष्ठाधर के अभिधान के निमित्त प्रयुक्त होता हुआ 'बिम्ब नाम का फल इस ओष्ठ से निश्चयतः अधर (निम्न) है'—समीचीन अन्वय को प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के रदन-च्छद के सम्मुख रक्तवर्ण बिम्बफल भी हीन है, यह कह कर कवि उपमान (बिम्ब) से उपमेय (ओष्ठ) की उत्कृष्टता सिद्ध करना चाहता है । इस भाव के लिए उसने एक अनूठी कल्पना की है । सामान्यतः 'अधर-बिम्ब' का अर्थ 'अधर बिम्ब के समान है'—करने के लिए यह कर्मधारय समास से निष्पन्न शब्द माना जाता है—'अधरो बिम्ब इव', किंतु दमयन्ती के संदर्भ में कवि के अनुसार यह समास उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि उसका ओष्ठ बिम्ब से श्रेष्ठ है, वहाँ बहुव्रीहि समास करने पर ही शब्दतः और

अर्थतः भव्यता आ सकेगी–'अधरं (निम्नतरम्) बिम्बं यस्मात् तत्'–निकृष्ट है विम्बफल जिससे। इस प्रकार ही अर्थ में उपयुक्तता आ सकेगी। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, किन्तु मल्लिनाथ पूर्वश्लोक के तुल्य ही इसमें भी अतिशयोक्ति और अलंकार-ध्वनि मानते हैं, चंद्रकलाकार व्यतिरेक ॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

जीवातु–हृतसारमिति। इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्याङ्कमिव, कुतः ? कृतमध्यबिलं विहितमध्यरन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्यन्तथा विलोक्यते, 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादि'त्यमरः। 'कृदिराकादक्तिन' इति ङीप्। अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः, स च कृतमध्यबिलमित्येतत्पदार्थहेतुकाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः। तया चोपमा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥ २५ ॥

अन्वयः—इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यबिलं धृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते।

हिन्दी—ऐसा प्रतीत होता है–विधाता द्वारा दमयन्ती के मुख की संरचना के निमित्त चन्द्रबिम्ब का श्रेष्ठ अंश ले लिया गया, अतः उसके मध्य में छिद्र हो गया, जिससे (कलंक चिह्न रूप में) उस गहरे गढ्ढे में आकाश की नीलिमा दिखायी पड़ रही है।

टिप्पणी–चंद्रमा का कलङ्क वस्तुतः कलंक-चिह्न नहीं है, यह तो दमयन्ती-मुख-रचना के लिए ले लिये गये उसके श्रेष्ठांश के अभाव में पड़े गर्त्त के पीछे से दीखती नभोमण्डल की नीलिमा है–इस उक्ति से कवि प्रतिपादित करना चाहता है कि दमयन्ती-वदन निष्कलंक चंद्र के श्रेष्ठांश के सदृश सम्भव है, यह चंद्र उसके सम्मुख हीन है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास, मल्लिनाथ के अनुसार कलंक का अपह्नव करके आकाश-नीलिमा का आरोप

होने से अपह्नुति है, जो 'कृतमध्यबिलम्'–इस पदार्थहेतुक काव्यलिंग से अनुप्राणित है। 'हृतसारम्'–इत्यादि उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार यहाँ अपह्नुति-काव्यलिंग-उत्प्रेक्षा का संकर है। उत्प्रेक्षा से उपमा व्यंजित है, सो अलंकारध्वनि भी है ॥ २५ ॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

जीवातु—धृतेति। विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलितमित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक' इत्यमरः। किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः। भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति भावः, एवं नीराजयन्तीति देशाचारः। अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणात्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—विधिः धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डरं विधुं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकं भ्रमयति–(इति) उचितम्।

हिन्दी—ब्रह्मा कलङ्क-चिह्न-रूप गोबर के अँचना (लेप) से युक्त, पिष्टोदक (ऐपन) से भूरे चंद्र को विदर्भतनया (दमयन्ती) के मुख की आरात्तिका (आरती) के निमित्त मृत्पात्र (मिट्टी का वर्तन–शराब, सरैया) के समान जो घुमाता है, सो वह उचित ही करता है।

टिप्पणी—सूर्य-चंद्र सब ईश्वरेच्छा से घूमा ही करते हैं–यह प्रकृति का नियम है। कवि दमयन्ती के मुख के सम्मुख चंद्र कहीं निकृष्ट है–यह प्रमाणित करने के लिए चंद्र-भ्रमण का कारण बताता है कि दमयन्ती के मुख की आरती उतारने के लिए ब्रह्मा की चेष्टा, जिससे इस सलौने मुखड़े को नजर न लग जाय, संपूर्ण दृष्टिदोषों का निराकरण हो जाय–उर्दू-मुहावरे के अनुसार 'चश्मे-बद्दूर'। चंद्रमा को गोबर से लिपा ऐपन से भूरा किया गया मिट्टी का पात्र बनाया गया है, जिससे यह दृष्टिदोष निराकरण हो रहा है। लोकजीवन में भी

गोबर लिपे, ऐपन से चिह्नित शराब से नजर उतारी जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार सावयव रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और सम अलंकार—योग्यता के कारण योग की यदि सम्भावना हो तो सम होता है—'समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्।' चंद्रकलाकार ने यहाँ सांगरूपक और असंबंध में सम्बन्ध कथन रूपा अतिशयोक्ति के संकर का निर्देश किया है॥ २६॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्॥ २७॥

जीवातु—सुषमेति। सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने कृते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखापादानात् भङ्गावधित्वाद-भाजि अभञ्जि स्वयमेव मग्नमभूदित्यर्थः, स्फुटं, कर्त्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणी'ति वैभाषिको नकारलोपः। अतएवाधुनापि भङ्गलक्षणम्पराजयचिह्नं सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न जहाति। जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः। उन्मज्जनक्रियानिमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा।२७।

अन्वयः—सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मं तन्मुखात् अभाजि, अधुना अपि भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनं न उज्झति स्फुटम्।

हिन्दी—सौन्दर्य-विषयक परीक्षा में समग्र कमल उसके मुख से पराजित हो गये, सो लगता है उसी पराजय-चिह्न-स्वरूप आज भी जल से ऊपर रहना नहीं छोड़ते। अथवा 'पद्म' पराजित हो 'अभाजि' अर्थात् टूट गये हैं, सो उसी 'भंग' (टूटन) के कारण आज भी 'स्फुट' अर्थात् छितरे हुए जल के ऊपर खड़े हैं।

टिप्पणी—कवि संसार भर के कमलों से दमयन्तीमुख का सौन्दर्य श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है, एतदर्थ यह कल्पना है। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहाराध्याय (२।९५–११३) में 'दिव्य' प्रकरण है, जिसके अनुसार 'जलदिव्य' में दमयंती-मुख और 'निखिल पद्मजात' के मध्य सौन्दर्य-श्रेष्ठता का परीक्षण हुआ। इसमें होता यह है कि एक धनुर्धर द्वारा छोड़े बाण को लेकर जब-तक दूसरा दौड़ता हुआ आता है, तब-तक जो जल में डूबा खड़ा रहता है, वही विजयी

माना जाता है। और जो बाण ले-आने के पूर्व ही जल से बाहर उभर आता है, वह पराजित माना जाता है। दमयन्ती-मुख से कमल पराजित हो गये, सो तब के उभर कर आये-आये आज भी जल के ऊपर ही रह कर मानो स्वपराजय को स्वीकारे हुए हैं। एतद्विषयक याज्ञवल्क्य का श्लोक (२।१०९) इस प्रकार है—

"समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जयी नरः।
गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात्।"

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अनुमान तथा अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

जीवातु—धनुषी इति। तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्याः दमयन्त्याः उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्ति कामयेते इति तथोक्तयोः तयोः 'शीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो ण' इति णप्रत्ययः, 'नालीकं पद्मखण्डेऽस्त्री नालीकः शरशल्ययोरि'ति विश्वः। नलिके न द्रोणिचापे न किमिति काकुः। पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वयः—तद्भ्रुवौ विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयोः धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः नलिके न (नु)।

हिन्दी—उसकी भौंहें जगज्जय के निमित्त उद्यत रति और पंचबाण काम के दो धनुष हैं और उसकी उन्नत नासिका के दो छिद्र मुझ पर उन छोटे-छोटे बाणों को छोड़ने के निमित्त बाणाधार-दो नलिकाएँ नहीं हैं क्या? (हैं ही)।

टिप्पणी—उसकी भौंहें सब को विमोहित करने वाली हैं, यह भाव है। काम के पाँच बाण हैं—(१) अरविन्द, (२) अशोक, (३) आम्र, (४) नवमल्लिका और (५) नीलकमल—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥" उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा, अथवा इन दोनों का संकर ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

जीवातु--सदृशीति । हे शूर ! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ, यस्याः सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सलिलानाञ्च सहायकसम्पन्नानामपीत्यर्थः । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । सरोरुहां श्रियः शोभा सम्पदश्च 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण बलिग्रहणेन च 'बलिहस्तांशवः कराः' 'लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता गृह–ग्रहण इति धातोश्चौरादिकात् 'स्पृहिगृही' त्यादिना आलुच प्रत्ययः, 'अयामन्ते'त्वादिना णेरयादेशः । सा दमयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः । शूरस्य शूरैव भार्या भवितुमर्हतीति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः--शूर, जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहां श्रियः करलीलया गृहयालुः सा परं तव सदृशी ।

हिन्दी--हे वीर, जल के दुर्ग में स्थित कमलनालों के जयी भुजयुग्मवाली, मित्र (सूर्य) रूप सहायक के रहते भी (अथवा मृणाल रूप हाथों से सूर्य की सेवा करते भी) कमलों की शोभा-संपत्ति को जैसे हस्तविलास-द्वारा ग्रहण शीला वह (दमयन्ती) केवल आपके योग्य है ।

टिप्पणी--कमलनाल से भी श्रेष्ठ भुज युग्म का वर्णन करने के साथ कवि 'जलदुर्गस्थ....' इत्यादि द्वारा दमयन्ती और नल की सदृशता प्रमाणित करता है । जैसे नल जल में बने सुरक्षित दुर्ग में जा छिपे, मित्रों की सहायता पाये हुए शत्रुओं को अपने बाहुप्रताप से बाहर निकाल उनकी सम्पत्ति ले लेता है, वैसे ही दमयन्ती भी 'करलीलया' 'मित्रजुट् सरोरुहों' की शोभा सम्पत्ति को छीन लेती है । इस प्रकार दमयन्ती शूर नल के ही योग्य है । शूर की भार्या शूरा ही हो सकती है, नल रणशूर, दमयन्ती सौन्दर्यशूरा । मल्लिनाथ के अनुसार उपमा और विद्याधर के अनुसार सम-श्लेष का संकर । चंद्रकलाकार यहाँ सम-श्लेष-अतिशयोक्ति का अंगांगिभावसंकर मानते हैं ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः॥ ३०॥

जीवातु—वयसी इति। सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव अत्र शैशवेन स्थातव्यन्ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमर्य्यादे अपि 'विभाषा ङिश्यो' रित्यल्लोपः, न रज्यतः न सन्तुष्यतः। रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः। एतेन वयःसन्धिरुक्तः। अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ३०॥

अन्वयः—सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी शिशुता तदुत्तरे वयसी विधिना रोमरेखया विभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यतः।

हिन्दी—उस सुलोचना पर अपनी अभिव्याप्ति (अधिकार) रखने के इच्छुक बाल्य और यौवन आयु विधाता द्वारा रोमों की रेखा से विभाजन करके सीमाबद्ध किये जाने पर भी संतुष्ट नहीं है।

टिप्पणी—वयःसंधि का वर्णन है। शिशुता अभी पूर्णतः गयी नहीं, यौवन का आगमन हो रहा है, जिसके चिह्न रूप रोमराजि प्रकट हो गयी है। यही रोम-राजि जैसे शैशव-यौवन की विधि-निर्मित सीमा-रेखा (मेढ़) है, पर जब-तक शैशव-यौवन 'दमयन्ती पर जितना सम्भव हो, अधिकार बना रखा जाय,' इस बात पर (लोकजीवन की भाँति) झगड़ा करते रहते हैं। मल्लिनाथ ने प्रस्तुत शैशव-यौवन के साम्य से अप्रस्तुत विवाद की प्रतीति होने के कारण यहाँ समासोक्ति मानी है, किन्तु विद्याधर के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति है। काकु वक्रोक्ति मान कर 'कृतसीम्नी अपि न रज्यतः' का यह अर्थ भी सम्भव है कि दोनों आयु-सीमा निर्धारण हो जाने पर भी दमयन्ती पर अनुरक्त हैं और सीमा-सम्बन्धी झगड़ा करते दो व्यक्तियों की भाँति स्थित हैं॥३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ॥ ३१॥

जीवातु—सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह – अपीति । कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधतां दुरवगाहतां गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतोः स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमलम्ब्यत इति प्रसिद्धं, भवतः खलु । अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौत्कट्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—कान्तिझरैः अगाधतां गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतोः स्मरयौवनयोः द्वयोः अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवतः ।

हिन्दी—लावण्य की झड़ी (धारा-प्रवाह) से अतलस्पर्शिणी दुःखगाहता को प्राप्त उसके शरीर पर प्रसर्पण (संतरण) करते काम और यौवन—दोनों के ही जैसे दोनों कुच संतरण-सहायक घड़े हो गये हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती पूर्ण लावण्यवती है, धीरे-धीरे काम और यौवन का प्रसार उसके भरपूर सुन्दर शरीर में हो रहा है । यह भाव प्रकट करने के लिए सौन्दर्य-धारा से उमड़ती गहरी देह-नदी में कुच रूप संतरण-कुम्भ का सहारा ले तैरते दो व्यक्तियों के रूप में काम-यौवन की कल्पना की गयी है । इस श्लोक में दमयन्ती-कुचों की संतरण-कुम्भों के रूप में उत्प्रेक्षा के कारण कुचों का उभार और विस्तार व्यंजित होने से मल्लिनाथ के अनुसार अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि है । विद्याधर रूपक का निषेध कर 'खलु' शब्द के आधार पर उत्प्रेक्षा मानते हैं अथवा अतिशयोक्ति ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ? ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

जीवातु—कलस इति । निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्यः चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वं सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुणः प्रधाने रूपादावि'त्यमरः । स । कलसे किमु ? दण्डकार्य्यं कलसे संक्रान्तः किमु ? इत्यर्थः, कुतः यद्यस्मात् स कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचा-

त्मना परिणतः सन् प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चकवाकभ्रान्ति कुलाल-दण्डभ्रमणं चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः। ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। अत्र 'समवायि-कारणगुणा रूपादयः कार्य्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदा-ध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्था-पितझरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्ये चक्रभ्रमकारिता-लक्षणनिमित्तकारणगुणसंक्रमणलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः। तार्किकसमये विरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम् तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपार-दृश्वानः शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

अन्वयः—निजहेतुदण्डजः चक्रभ्रमकारितागुणः कलसे किमु, यत् सः तदु-च्चकुचौ भवन् प्रमाकरचक्रभ्रमम् आतनोति।

हिन्दी—कलश में जो चक्रभ्रमकारी (चाक का भ्रम उपजाने वाला) भाव-रूप गुण दीखता है, वह क्या निमित्त कारण दंड से संजात है, जिससे वह कलश उस (दमयन्ती) के उन्नत दोनों कुच होता हुआ दीप्ति की झड़ी से (कुम्भकार के) चक्र का भ्रम (दर्शकों की दृष्टि में) उत्पन्न कर रहा है? अथवा लोक समूह में मदजनित मोह उत्पन्न कर रहा है अथवा वह कलश कुचयुग्म होकर प्रभा-प्रवाह में भ्रमते चकवे का भ्रम उत्पन्न कर रहा है।

टिप्पणी—दमयन्ती का चक्रवाक और कलश के समान कुचयुगल अत्युन्नत है, जो देखता है, सौन्दर्य की चकाचौंध में दृष्टि-भ्रांत हो जाता है, वैसे ही जैसे तीव्र सूर्यप्रकाश को देखकर सब विमुग्ध हो जाते हैं, जैसे उन पर मद चढ़ गया हो। भ्रम का अर्थ घूमना—चक्कर खाना भी है। इसको लेकर कवि ने 'न्यायग्रहग्रन्थिल तर्क' में अपना ज्ञान-प्रदर्शन किया है। न्यायशास्त्र में तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं—(१) समवायि, (२) असमवायि और (३) निमित्त। जिससे समवेत कार्य उत्पन्न होता है, वह समवायि कारण है, जैसे मृत्पिंड घट का। यह द्रव्य ही होता है। इससे भिन्न असमवायि कारण है। यह गुण या कर्म होता है, जैसे मृत्कपाल-द्वय-संयोग घट का। निमित्त कारण

साधनभूत होता है, जैसे घट का कुलाल, उसका दण्ड आदि। कारण के गुण कार्य में आते हैं, पर केवल समवायि कारण के, असमवायि और निमित्त के नहीं। परन्तु दमयन्ती के कुलाल-चक्रभ्रमकारी कुचकलश में यह चक्रभ्रम गुण (द्रव्य नहीं) निमित्त कारण दण्ड से आया है। यह कितना विचित्र है कि न्यायशास्त्र के नियम भी बदल गये। पूर्वश्लोक में कुचयुग्म घटसम कहे गये थे, यहाँ विशिष्टता दिखाकर जैसे कवि ने भूल सुधारी।

तार्किक मान्यता का विरोध होने से कुछ विद्वान् इस पद्य में विरोधाभास अलंकार मानते हैं, मल्लिनाथ इसे उचित नहीं मानते। उनके अनुसार यहाँ कुचों में कलश-भ्रम अभेदातिशयोक्ति है, कुचात्मा कलस कार्य में झरचक्र-भ्रमात्मक क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा इस अतिशयोक्ति से उत्थापित है, चक्रभ्रम-कारिता रूप निमित्त कारण के गुण के संक्रमण के कारण। विद्याधर के अनुसार अनुमान रूपक और भ्रान्तिमान् अलंकार हैं। चंद्रकलाकर ने रूपक-उत्प्रेक्षा-श्लेषमूला अतिशयोक्ति का संकर माना है॥ ३२॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट्॥ ३३॥

जीवातु—भजत इति। दमस्वसुर्दमयन्त्याश्चिकुरैर्निर्म्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जितबर्हं इत्यर्थः। शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तया कुचशोभया जितकुम्भ इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते। पर-परिभूताः प्राणत्रायाण प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम्। अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्वजितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्य-लिंगे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च॥ ३३॥

अन्वयः—दमस्वसुः चिकुरैः निर्मितबर्हगर्हणः शिखी षण्मुखं, कुचशोभया जितकुम्भः इभराट् अपि जम्भरिपुं भजते खलु।

हिन्दी—दमयन्ती की केशराशि के द्वारा अपने पिच्छों के तिरस्कृत होने के कारण मयूर मानों छः मुखवाले स्वामिकार्तिकेय की सेवा में चला गया है और कुचों की शोभा से पराजित कुम्भस्थल वाला गजराज ऐरावत भी जैसे जम्भासुर के शत्रु इन्द्र की सेवा में।

टिप्पणी—दमयन्ती की केशराशि मयूरपिच्छ से अधिक घनी, लहरदार और शोभाशालिनी है और कुचयुग्म के सम्मुख गजराज ऐरावत की कुम्भ-स्थली भी निम्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि मयूर ने इसी से षडानन (अत-एव अधिक केशराशि वाले) की शरण ली है और ऐरावत देवराज को सेवा करके प्रसन्न करना चाहता है कि मयूर-ऐरावत दमयन्ती की केशराशि और कुचयुग्म की समानता करने योग्य केश-कुम्भस्थल पा सके। मल्लिनाथ की दृष्टि में काव्यलिंग और अतिशयोक्ति, जिनका चंद्रकलाकार संकर मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और दीपक अलंकार हैं ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

जीवातु—उदरमिति। दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तत्ता तया स्फुरत् दृढफलके पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठ-पदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समा-हारश्चतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे। तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं तत्त्रिवलि पूर्ववत् समासादिः कार्यः, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत् 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति संज्ञायां द्विगुरिति। तदपि चेत्करणसामर्थ्यात् त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमितिप्रतीमः। तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति शेषः। मुष्टि-ग्राह्यमध्येयमित्यर्थः। मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुर-ङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतु-रङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतम्।

हिन्दी—दमयन्ती का उदर पीठ का मध्यभाग नत होने के कारण जिसका अगुष्ठ-स्थान प्रकट हो रहा है, उस मुठ्ठी से चार अंगुलियों के बीच से निकली त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित बनाया गया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का वर्णन। अंगुष्ठ-निवेश का कारण पृष्ठमध्य में निम्नत्व है और चार अंगुलियों द्वारा धारण करने के कारण तीन रेखाएँ (त्रिवली) बन गयी हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और रूपक अलंकार ॥ ३४ ॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ?।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

जीवातु—उदरमिति। कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभिर्वलिभिर्हेमकाञ्च्या सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः। एतस्याः कनकसावर्ण्यं सूचितम् धृतं तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा। अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयः सङ्करः। पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम्। इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेदः प्रेक्षितरिति भावः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—कः अपि कुतुकी मुष्टिना दमस्वसुः उदरं परिमाति किमु यत् सहेमकाञ्चिभिः वलिभिः धृततच्चतुरङ्गुलि इव भाति ?

हिन्दी—क्या कोई कौतुकी मुठ्ठी से दमयन्ती का उदर नापना चाहता है कि स्वर्ण मेखला सहित त्रिवलियों के कारण वह नापनेवाले की चार अंगुलियों से युक्त जैसा सुशोभित हो रहा है ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्वर्णमेखला पहिन रखी है, एक वह और तीन त्रिवली—सब मिलकर ऐसा लग रहा है कि किसी ने नापने के लिए चार अंगुलियों में दमयन्ती का उदर पकड़ रखा है। मल्लिनाथ के अनुसार दो उत्प्रेक्षाओं का सजातीय संकर, विद्याधर के मत में उत्प्रेक्षा और उपमा ॥३५॥

पृथुवर्तुलतान्नितम्बकुम्भिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षाया ।
विधिरेककचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

जीवातु—पृथ्विति। पृथु वर्त्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं कृतवान् विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एककमेकाकि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः। तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किमु? इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा किमर्थमिदं नितम्बनिर्माणमिति भावः। मातेः सन्नन्ताल्लट्। 'सनि मीमे' त्यादिना ईसादेशः, 'सस्यार्द्धधातुक' इति सकारस्य तकारः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः॥ ३६॥

अन्वयः—पृथुवर्त्तुलतान्नितम्बकृत् विधिः किमु मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया एककचक्रचारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति?

हिन्दी—(दमयन्ती के) विशाल और गोलाकार नितंब का निर्माता विधाता क्या सूर्य रथ के शिल्प के अभ्यास से एक ही चक्के पर चलनेवाला कामदेव का रथ बनाना चाहता है?

टिप्पणी—दमयन्ती के वर्तुलाकार, विशाल नितंबस्थल को देखकर मदन प्रादुर्भाव हो जाता है, इस कारण कवि ने उसे 'मान्मथरथ' बताया। विधाता को सूर्यरथ के निर्माण का अभ्यास होने के कारण उसने शायद 'मान्मथरथ' भी 'एकचक्रधारी' बनाना चाहा है। उत्प्रेक्षा॥ ३६॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपः फलस्तनीम्॥ ३७॥

जीवातु—तरुमिति। सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भां नाम तरुं परन्तरुमेव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। जिष्णुः किमु? किन्तु धनदापत्यस्य नलकूबरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भान्नाम तरुणीमपि जिष्णुरेव। 'रम्भाकदल्यप्सरसोरि''ति विश्वः। रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा इत्युभयथा रम्भोरुरित्यर्थः॥ ३७॥

अन्वयः—सुन्दरी परिणाहिना ऊरुयुगेन परं रम्भां तरुं किमु धनदापत्यतपः फलस्तनीं तां तरुणीम् अपि जिष्णुः एव।

हिन्दी—वह सुन्दरी विशाल ऊरुयुगल से केवल रम्भा (कदली) वृक्ष को क्या, लगता है कि कुबेर के पुत्र (नलकूबर) की तपस्या के फलस्वरूप कुच-युग्मधारिणी (अथवा नलकूबर ने तप करके जिस रम्भा को फलरूप में पाया उसे) तरुणी (अप्सरा रंभा) को भी जीतना चाहती है।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का ऊरुयुग्म चिक्कणता और सुडौल होने में कदली वृक्ष से श्रेष्ठ तो है ही, उसकी सुषमा स्वर्गसुन्दरी, कुबेर की पुत्रवधू अप्सरा रंभा के ऊरुयुगल से भी कमनीय है। 'रम्भा' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग-वैचित्र्य। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा, चंद्रकलाकार ने श्लोक के पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति तथा उत्तरार्द्ध में असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन होने से अतिशयोक्ति मानकर दोनों के अंगांगिभाव संकर का निर्देश किया है ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतैः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जीवातु—जलजे इति । ये जलजे द्विपद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदतां चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठामवापतुः ते जलजे कर्मभूते विधिपत्र-दम्पती द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहनहंसौ एत्यागत्य रुतैः रवात्कूजनादित्यर्थः । रौतेः सम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः । सहंसकी सपादकटकी सहंसकी च कुरुतः 'अभूततद्भावे च्विः' । 'हंसकः पादकटक' इत्यमरः । हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । पद्महंसयोरविनाभावात् कयोश्चि-द्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वञ्चोत्प्रेक्षते ॥ ३८ ॥

अन्वयः—ये जलजे रविसेवया इव एतत्पदतां पदम् अवापतुः ते विधिपत्र-दम्पती एत्य रुतैः ध्रुवं सहंसकीकुरुतः ।

हिन्दी—जिन दो कमलों ने जैसे सूर्य की सेवा द्वारा इस (दमयन्ती) के चरण होने का पद (स्थान) पाया है, ब्रह्मा के वाहन हंसदम्पती आकर अपने कलरव से निश्चय ही उन (कमल चरणों) को सहंसक (पादकटक-नूपुरसहित) कर रहे हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कमल-सम चरण नूपुर (ध्वनि)

युक्त हैं। उनकी सुषमा कमल और हंस-दोनों से अधिक कथनीय है। कमलों को चरण होने का गौरव तब मिला, जब उन्होंने सूर्योपासना की और हंस-दम्पती को उन चरणों के नूपुर होने का तब, जब उन्होंने संसार के निर्माता विधाता की वाहन रूप में सेवा की। लगता है कि विधाता ने दमयन्ती के कमल-चरण बनाकर और कुछ उपयुक्त न पाते हुए अपने वाहन हंसदम्पती को ही उनके नूपुर बना दिया। उत्प्रेक्षा। चंद्रकलाकार ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में श्लेषाधृता अतिशयोक्ति मान कर इनकी संसृष्टि का उल्लेख किया है॥ ३८॥

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि॥ ३९॥

जीवातु—श्रितेति। श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं जलजं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलाङ्गतिं रम्यगतिमुत्तमदशाञ्च, 'गतिर्मार्गे दशायां चे'ति विश्वः। कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः। पदस्य गतिसाधनत्वात्तत्रापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः। तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः। सम्भावनायां लोट्॥ ३९॥

अन्वयः—श्रितपुण्यसरःसरित् समाधिक्षपिताखिलक्षपं जलजं दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि मञ्जुलां गतिं कथं न एतु?

हिन्दी—पुण्यकर सरोवर और नदियों का आश्रय लेनेवाला (तीर्थसेवी) और रात भर मुँदा रहकर समाधि लगा समग्र रात्रियाँ बिताने वाला कमल दमयन्ती-चरण नाम पाकर जिसमें जन्मा, उस जन्मान्तर में ऐसी रमणीय गति क्यों न प्राप्त करे? (प्राप्त करना ही उचित है)।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में कमलों के दमयन्ती चरण रूप पाने के जिस सौभाग्य की उत्प्रेक्षा की थी, यहाँ उसी के कारण की सम्भावना की गयी है। दिन रात पुण्यतीर्थों में निवास करने और रात-रात भर समाधि में लीन रह

कर यह सौभाग्य मिला है। ऐसे ही उत्तमा गति प्राप्त होती है। 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ समासोक्ति है और 'चंद्रकलाख्या' के अनुसार समासोक्ति और अर्थापत्ति का अंगांगिभाव संकर ॥ ३९ ॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

जीवातु—अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति। सरसीः सरांसि परिशीलितुं परिचेतुं तत्र विहर्त्तुमित्यर्थः। चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः। गमिर्गमनं शब्दपरशब्देनार्थो गम्यते तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः नैके अनेके नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। नितरां वर्त्तन्ते जना येष्विति नीवृतः जनपदाः येन तेन क्रान्तानेकदेशेनेत्यर्थः। 'नहिवृती'त्यादिना दीर्घः। मया सदसद्वेति संशयगोचरः सन्देहास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरी-त्यर्थः। 'नासिकोदरे' त्यादिना ङीप्। सा दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः। नयतेः कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

अन्वयः—सरसीः परिशीलितुं गमिकर्मीकृतनैकनीवृता मया सदसत्संशय-गोचरोदरी सा दृशोः अतिथित्वम् अनायि।

हिन्दी—अनेक सरोवरों में अवगाहन करने की इच्छा से अनेक देशों को गमन कर्म का विषय बनाते (अनेक दिशा-दिशान्तरों में घूमते) मैंने जिसका उदर 'अस्ति-नास्ति' का संशय उत्पन्न कर देता है—दृष्टिपथ में आता ही नहीं—उस कृशोदरी) को नयनों का अतिथि बनाया (देखा)।

टिप्पणी—विचित्र है कि जिसका अंग सरलतया दृष्टिगोचर ही नहीं हो पाता, उसे हंस ने अपने नयनों से देखा। यह दिग्दिगंत में परिभ्रमण से ही हो सका, अर्थात् अनेक देशों में वही ऐसी अकेली सुन्दरी है। अद्वितीया, अनुपमा, उस-सी और कोई नहीं। साहित्यविद्याधरी के अनुसार 'वक्रोक्ति जीवित' के आधार पर यहाँ 'अर्थ की प्रौढ़ि' अर्थात् ओज गुण और पर्याय-वक्रता-प्रकार है। अतिशयोक्ति ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम्।
कनमस्तु विधानुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

जीवातु—अवधृत्येति। अहमिमान्दमयन्तीं दिवः स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्यौवतैर्युवतिसमूहैरपि 'गार्भिणं यौवनं गण' इत्यमरः। भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः, तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्यान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तदग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धित' इति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः। न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थः। 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामनः। अवधृत्य निश्चित्य विधातुः ब्रह्मणः आशये हृदि अस्याः पतिः कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, तदैवेति शेषः॥ ४१॥

अन्वयः—इमां दिवः यौवतैः अपि सह तु न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातुः आशये अस्याः पतिः कतमः वसति—इति अहम् अचिन्तयम्।

हिन्दी—यह निश्चय करके कि यह (दमयन्ती) स्वर्ग-सुन्दरियों के साथ भी तो पाठ नहीं पढ़ी है (रूप-गुण में स्वर्ग सुन्दरियाँ इसके समान नहीं हैं) मैं यह सोचने लगा कि विधाता के मन में कौन इसका पति है?

टिप्पणी—भाव यह है कि असदृश सुन्दरी दमयन्ती के अनुरूप कहाँ त्रिलोकी में वर प्राप्त होगा? प्रतीप अथवा व्यतिरेक अलंकार॥ ४१॥

अनुरूपमिम निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम्।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्॥ ४२॥

जीवातु—अनुरूपमिति। यथेदानीमनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् तस्याः पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्। त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः। अयमेव विधातुरप्याशय इति भावः॥ ४२॥

अन्वयः—इमम् अनुरूपं निरूपयन् अथ सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपक्षतां व्यपनेतुम् अक्षमः त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के अनुरूप (योग्य पति) का विचार करते हुए सभी अन्य युवकों में पूर्वपक्षता (अयोग्यरूपता) का निराकरण करने में असमर्थ मैंने आप (राजा नल) में सिद्धान्त बुद्धि (भैम्यनुरूपता) का निश्चय किया।

टिप्पणी—'पूर्वपक्ष' होता है किसी 'विचार' का आरम्भिक, असिद्ध और संदेहास्पद पक्ष, जो उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा दुर्बल होगा ही। पूर्वपक्षमें जो समस्या उठायी जाती है, सिद्धांत पक्ष में उस का समाधान होता है। पूर्वश्लोक के अनुसार हंस की दृष्टि में त्रिलोकी का कोई तरुण-तरुणी दमयन्ती के सदृश नहीं आया। उस स्थिति में उसके मन में स्वाभाविक विचार आया कि कौन तरुण इसका अनुरूप पति होगा ? अनेक ख्यात युवकों पर विचार किया, पर वे 'पूर्वपक्ष' ही रहे, 'समाधान' न बन पाये, 'समाधान' मिला नल के रूप में। सिद्धांत यह निर्णीत हुआ कि त्रिलोक में दमयन्ती के अनुरूप नल ही है। इस प्रकार अन्य तरुण हैं 'पूर्वपक्ष' और नल है 'सिद्धान्तपक्ष'। सम अलंकार ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

जीवात्—अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति। चिरमवलोकिताऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी अद्याधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसीमया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंस्कारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती स्मृतिपथङ्गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अद्य अनया तव रूपसीमया चिरम् अवलोकिता अपि सा शुचिस्मिता कृतसंस्कारविबोधनस्य मे स्मृतिम् आरूढवती।

हिन्दी—आज इस आपकी रूप-सीमा (लावण्य की पराकाष्ठा) द्वारा बहुत काल पूर्व देखी गयी भी वह शुभ्रमंदहासशालिनी (दमयन्ती) पूर्व संस्कार के समुद्बोध के कारण मेरी (हंस की) स्मृति में आ गयी।

टिप्पणी—सदृश वस्तु के दर्शन से प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और पूर्व दृष्ट का स्मरण हो आता है। दमयन्ती के अनुरूप नल को देख कर हंस की पुरानी स्मृति नवीन हो गयी और दमयन्ती ध्यान में आ गयी। स्मरण अलंकार ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर! विराजते परं दमयन्तीकिलकिंचितं किल।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

जीवातु--ततः किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्याः किल-किञ्चितम्, 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षित-शृङ्गारचेष्टितं त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते खलु । तथाहि—मणि-हारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः रामणीयकं रमणीयत्वं 'योपाधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्रेत्यर्थः । स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्राये-णेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगाः । अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययो-र्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तननृपयोः समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणन्तूक्तम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः--वीर, दमयन्ती किल किञ्चितं परं त्वयि विराजते किल, मणि-हारावलिरामणीयकं तरुणीस्तने एव दीप्यते ।

हिन्दी—हे वीर, दमयन्ती का किलकिञ्चित (शृंगार चेष्टा) केवल तुझ पर विशेषतः शोभा पायेगा, मणिमाल की रमणीयता तरुणी के कुचों पर ही दीपती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल और दमयन्ती की रूप-शोभा परस्पर प्रयुक्त ही सुशोभित और सार्थक होगी । प्रिय-संग होने पर मंद-हास्य, अश्रुरहित रुदन, हँसी, भय, क्रोध, श्रम आदि के संमिश्रण से जो तरुणियों की शृङ्गार-चेष्टाएँ होती हैं, वे 'किलकिंचित' हैं—'स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् साङ्कर्यं किलकिञ्चितममीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात्' (साहित्यदर्पण ३।११०) । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत और विद्याधर के अनुसार प्रतिवस्तूपमा ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—तवेति । हे वीर ! तवेदं रूपं सौन्दर्यं तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो वन्ध्यवृक्षस्य 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे'त्यमरः । पुष्पमिव विफलं निरर्थकम्, ऋद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्कोकिला स्ववनी निजोद्यानमपि 'ङीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः । 'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोरि'ति विश्वः । अत्र नलरूपावनीवनीनां दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरल-

ङ्कारः। 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिदत्रान्यत्र परा भवेत्। रम्यताऽम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृते'ति लक्षणात्। तस्याश्च पुष्पमिवेत्युपमया संसृष्टिः।

अन्वयः—अवकेशिनः पुष्पम् इव तव इदं रूपं तया विना विफलम्, इयम् ऋद्धधना अवनी वृथा, सम्प्रवदत्पिका अपि स्ववनी का ?

हिन्दी—जैसे अवकेशी (बाँझ वृक्ष) का फूल (अथवा 'अवकेशी' अर्थात् केशरहित व्यक्ति द्वारा सिर में लगाया फूल) विफल अर्थात् फलरहित होता है, वैसे ही यह आपका रूप उसके बिना निष्फल है, यह धनधान्य से समृद्ध धरा व्यर्थ है और कोकिल-कूजन से कूजित आपकी विलास-वाटिका भी क्या है ? (व्यर्थ है।)

टिप्पणी—आशय यह है कि नल का यह रूप-सौन्दर्य, यह समृद्धराज्य, यह हरी-भरी विलास-बाड़ी तभी सार्थक हों, जब 'वह' साथ हो। मल्लिनाथ के अनुसार विनोक्ति-उपमा की संसृष्टि, विद्याधर ने छेकानुप्रास, विनोक्ति, दीपक और उपमा अलंकारों का निर्देश किया है ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

जीवातु—अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति। अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यमानयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः। अत्र तत्संयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तत्सापेक्षा चेयमुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अमरकाम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया निशाकरत्विषा कुमुदेन इव त्वया न सुलभः।

हिन्दी—जिसकी कामना देवगण करते हैं, ऐसी इस (दमयन्ती) के साथ आपका मिलन उसी प्रकार सुलभ नहीं है, जिस प्रकार वर्षागम में मेघाच्छन्न चंद्र की चंद्रिका के साथ कुमुद का योग नहीं होता।

टिप्पणी—सर्वथा अनुरूपता होने पर भी नल का दमयन्ती से विवाह सरल

नहीं है, सुसाध्य नहीं, दुःसाध्य अथवा प्रयत्नसाध्य है, क्योंकि इंद्रादि देव भी उसकी कामना करते हैं। वर्षा काल में बादलों से ढकी चाँदनी कुमुद को तभी लब्ध हो पाती है, जब दैव-सहायता से वायु द्वारा मेघ उड़ जाते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार दैवी सहायता और प्रयत्न से ही नल-दमयन्ती-योग साध्य होगा, वैसे ही नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उपमा का संकर, विद्याधर की दृष्टि में 'बिम्बप्रतिबिम्बभावेन' उपमा अलंकार।

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

जीवातु—अत्र का गतिरित्याह--तदिति। तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वादहं दमयन्त्याः सविधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः। यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः। यथेन्द्रादिप्रलोभिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अन्वयः--तत् अहं दमयन्त्याः सविधे तथा तथा तव स्तवं विदधे यथा तया हृदये निहितः भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते।

हिन्दी--सो मैं (हंस) दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी-ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे उसके हृदय में स्थापित आप इंद्र द्वारा भी नहीं हटाये जा सकेंगे।

टिप्पणी--प्रयत्न शीलता का संकेत। हंस द्वारा राजा का ऐसा प्रशंसात्मक विवरण उपस्थित किया जायेगा कि अन्यदेव क्या इंद्र को भी दमयन्ती नल के सम्मुख न गिनेगी। साहित्य विद्याधरी के अनुसार अतिशयोक्ति, चंद्रकलाख्या के अनुसार अर्थापत्ति ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

जीवातु--तर्हि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह तवेति। अत्रास्मिन् कार्ये केवलामेकां तव सम्मतिमङ्गीकारमधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिक्।

तथा हि साधवो निजोपयोगितां स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्त्या न ब्रुवते। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

अन्वयः—अत्र केवलां तव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इदं निवेदितम् धिक्, हि साधवः निजोपयोगितां फलेन ब्रुवते न तु कण्ठेन।

हिन्दी—इस समय केवल आपकी स्वीकृति प्राप्त करने के निमित्त जो यह निवेदन किया, उसे धिक्कार, क्योंकि भले व्यक्ति अपनी उपयोगिता फल (कार्य) से ही बखानते हैं, कण्ठ से (मौखिक) नहीं।

टिप्पणी—सज्जन अपनी सार्थकता क्रिया द्वारा प्रमाणित करते हैं, केवल बातों से नहीं। हंस ने जो इतना कहा, वह इसी कारण कि कार्य सम्पन्न करने से पूर्व वह महराज नल की 'मंजूरी' चाहता था। अर्थान्तरन्यास ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात्।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

जीवातु—तदिति। स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं प्रसन्नमवदातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपकं तत्परिपीय अत एव अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे निर्मितवान्। माङः कर्त्तरि लिट्। अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः। सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा।

अन्वयः—द्विजाधिपात् अभ्युदितं विशदं तत् इदं वचोमृतं परिपीय सः अतितृप्ततया तदुद्गारम् इव सितं स्मितं विनिर्ममे।

हिन्दी—द्विजराज चंद्र के समान शुभ्र द्विजराज (पक्षिराज हंस) से उदित (निःसृत, कहे गये) विशद (उज्ज्वल, विस्तृत) वचनामृत का पान कर अत्यन्त तृप्ति के कारण उस (राजा नल) ने उस (हंस-वचन) के उद्गार के सदृश मंद हास्य किया।

टिप्पणी—राजा को हंस का प्रस्ताव सुनकर अत्यन्त सन्तोष और सुख मिला। हंस का वचन अमृत के समान शुभ्र है, क्योंकि श्वेत से श्वेत ही का उद्भव होता है। कविसमयसिद्ध मंद हास्य का वर्ण भी श्वेत। मल्लिनाथ

ने स्मित के सितत्व-साम्य के आधार पर वागमृतोद्गार की उत्प्रेक्षा मानी है। कदाचित् कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक में समासोक्ति मानी है, विद्याधर ने उसका खंडन करते हुए रूपकोत्प्रेक्षालंकार का निर्देश किया है। उनका कथन है कि 'वचोमृतम्' में रूपक है, वह उत्प्रेक्षा का निमित्त है। अर्थान्तर की प्रतीति का कारण रूपक ही है। इससे यहाँ समासोक्ति नहीं है। चंद्रकलाकार ने श्लिष्टपरंपरितरूपक-उत्प्रेक्षा का अंगांगिभाव संकर माना है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगङ्कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

जीवातु—परिमृज्येति। निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्'। भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः। पतगं हंसं परिमृज्य तस्य हंसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जन्याः गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः। अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिबन्धात् अतिशयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते। यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात्। सा च पाणिकोकनदयोरभेदोक्तिः अभेदरूपा तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपक संसृष्टिः ॥ ५० ॥

अन्वयः—नैषधः भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पतगं परिमृज्य तस्य मुदे प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः गिरः मृदु अगिरत्।

हिन्दी—नल ने भुजा के अग्रभाग में जन्मे रक्तकमल (रक्ताभ कर) से विहंग का संस्पर्श करके उसकी मोद-वृद्धि के निमित्त प्रिय वचन रूप अमृत के कूप स्वरूप कंठ से उत्पन्न वचन धीरे-धीरे कोमलता पूर्वक बोले।

टिप्पणी—हंस को कमल प्रिय होता है, राजा ने अपने करकमल से हंस का स्पर्श कर उसके प्रति प्रीति प्रकट की, कमल-भोजन देकर तदनन्तर प्रिय-वचनरूप सुधा का पान कराया। अतिथिसत्कार। अतिशयोक्ति-रूपक की संसृष्टि ॥ ५० ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

जीवातु—न तुलेति। हे हंस! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्य-भूमौ न वर्त्तते असदृशीत्यर्थः। ते तव सुशीलता शौशील्यं वचो वर्त्मनि न वर्त्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः। अत एवाकृतौ गुणाः 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धाप्रतिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता आकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः। अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः 'हेतोर्वाक्यार्थ-हेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तव आकृतिः तुलाविषये न, ते सुशीलता वचो वर्त्मनि न, आकृतौ गुणाः-इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा।

हिन्दी—तुम्हारा आकार तौला नहीं जा सकता और तुम्हारी सुशीलता वचन के पंथ में नहीं आती (तुम्हारे रूप की तुलना नहीं की जा सकती—असदृश है तुम्हारा आकार और तुम्हारी सुशीलता का वर्णन संभव नहीं है), अतः सामुद्रिकशास्त्र के इस रहस्य का उदाहरण कि आकृति में गुण रहा करते हैं, तुम्हीं हो।

टिप्पणी—हंस के अनुपमेय आकार और सुस्वभाव की प्रशंसा। जैसा सुन्दर रूप, वैसा ही स्वभाव। हंस के माध्यम से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति' प्रमाणित हो रहा है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरवाक्यार्थ के पूर्ववाक्यार्थ हेतुक होने से काव्यलिंग अलंकार, विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और काव्यलिंग। चंद्रकलाकार ने इन दोनों अलंकारों की निरपेक्षतया स्थिति के आधार पर संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

जीवातु—न सुवर्णेति। ननु हे हंस! तवेयं तावकी 'युष्मददस्मदोरन्य-तरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवका-

देशः। तनुः परं मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्मयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः। अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किमु किं वेत्यर्थः। निपातानामनेकार्थत्वात्। अनवलम्बे निराधारे माद्दशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः। अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि माद्दशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ननु तावकी इयं तनुः परं सुवर्णमयी न किं वाक् अपि तथा अनवलम्बे पथि परं पक्षपातिता न, माद्दशे अपि सा किमु ?

हिन्दी—निश्चय ही, तेरी यह देह ही सुवर्णमयी नहीं है, किंतु वाणी भी वैसी ही 'सुवर्णमयी' (शोभन वर्णों—अक्षरों, शब्दों; वाक्यों से—युक्त) है, निराधार पथ (आकाश) में ही तुम्हारी 'पक्षपातिता' (पंखों द्वारा यात्रा) नहीं है, वह पक्षपात (अनुकूल भाव) मुझ जैसे निर्गतिक व्यक्ति पर भी है। क्यों, है न ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक में कथित रूप और वाणी के सौदर्य की पुष्टि। भाव यह कि दमयन्ती-प्राप्ति के विषय में आधारहीन, असहाय नल का सहारा अथवा आधार हंस ही है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'सुवर्णमयी' और 'पक्षपातिता'—इन दो श्लेषों की सजातीय संसृष्टि है, जिससे उपमा व्यंजित होती है, विद्याधर ने श्लेष और उत्प्रेक्षा माने हैं ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान्।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

जीवातु—भृशेति। भृशतापभृता अतिसन्तापभाजा मया भवांस्तुषारैः शीकरैः सारवानुत्कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि सन्तापहरत्वादिति भावः। तथा हि—धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मशङ्खादिः संश्चासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः। सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यतस्तु दहन एवेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः--भृशतापभृता मया तुषारसारवान् मरुत् भवान् आसादि, धनिनां सन्निधिः इतरः पुनः सतां गुणदरसन्निधिः एव ।

हिन्दी--(वियोगज्वर से) अत्यंत संतप्त मैंने हिम के श्रेष्ठ भाग से युक्त (अत्यंत शीतल) वायु आपको प्राप्त कर लिया; धनवानों की अन्य धनद्रव्य आदि अच्छी निधि (कोष) हो सकते हैं, सज्जनों की सन्निधि (श्रेष्ठ कोष) तो फिर गुणियों से समागम ही है ।

टिप्पणी--आशय यह कि विरहज्वर से पीडित नल को हंस की प्राप्ति शीतलतम समीर के समान सुखदायिनी प्रतीत हुई, उन्हें हंस क्या मिला; बहुत बड़ी निधि मिल गयी । निधियाँ नौ मानी जाती हैं--(१) महापद्म, (२) पद्म , (३) शंख, (४) मकर, (५) कच्छप, (६) मुकुन्द, (७) कुन्द, (८) नील और (९) खर्व--'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥' मल्लिनाथ ने यहाँ दृष्टांत अलंकार का निर्देश किया है, चंद्रकलाकार ने रूपकद्वय की संसृष्टि। किन्हीं टीकाकारों ने यहाँ समासोक्ति मानी है, विद्याधर उसे अमान्य ठहराते हैं, क्योंकि यहाँ रूपक और अर्थांतरन्यास अलंकार हैं और अर्थान्तर की प्रतीति रूपक से ही होती है ।

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

जीवातु--शतश इति । त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः सहौषधमिति रूपकम् । सा दमयन्ती शतशो मम श्रुति श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगतां दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टां मन्ये । आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः--त्रिजगन्मोहमहौषधिः सा शतशः मम श्रुतिम् आगता एव, अधुना तव शंसितेन तु तां स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि ।

हिन्दी--त्रिलोकी का संमोहन करने की उत्तम ओषधि (श्रेष्ठ जड़ी बूटी-संमोहिनी विद्या) वह (दमयंती) सैकड़ों वार मेरे कानों में आयी ही है, इस समय तुम्हारे इस वर्णन द्वारा तो वह मुझे अपने नेत्रों से दीख रही ही प्रतीत हो रही है ।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले प्रथम सर्ग में (श्लोक सं. ४४) कहा जा चुका है कि नल ने अनेक बार दमयंती की चर्चा सुनी थी, हंस ने तो उसका ऐसा सजीव शब्दचित्र उपस्थित किया कि नल को लगा कि वह दमयंती को प्रत्यक्ष देख रहा है। रूपक और भाविक अलंकार अथवा दोनों की संसृष्टि। 'काव्यप्रकाश' के अनुसार–'प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद् भाविकम्' ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

जीवातु—अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह–अखिलमिति। सुहृदा आप्तमुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थमखिलं कृत्स्नमर्थमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यतामवधारयतां विदुषां विवेकिनां सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थदर्शिनी 'सुप्सुपे'ति समासः। अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् अनाविलम् पश्यतां विदुषां सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी अक्षिणी वदनालंकृतिमात्रम्।

हिन्दी—आप्त, मित्र और अपने मन के माध्यम से समस्त वस्तुजात को असंदिग्ध रूप से देखनेवाले विद्वज्जनों की निकटस्थ भी सूक्ष्म वस्तु को न देख सकने वाली आँखें मुख की अलंकृति मात्र हैं।

टिप्पणी—आँखों के निकटतम होता है काजल, पर वे उसे भी नहीं देख पातीं, तो दूर की वस्तु क्या देखेंगी? दूर की वस्तु तो आप्त, मित्रों अथवा स्वमनोभावना के माध्यम से ही गोचर होती है, अतः विद्वज्जनों के नेत्र तो बस मुख की शोभामात्र हैं। सूक्ष्म—सार ग्राहिनी वे आँखें नहीं होतीं। हंस प्राप्त है, मित्र है, उसका 'शंसित' विश्वसनीय होना ही चाहिए। भाव यह है कि अप्रत्यक्ष दमयंती को –दूरदेशस्थिता को ये आँखे मित्र के माध्यम से देख सकती हैं। अतिशयोक्ति ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

जीवातु--अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवणप्राघुणकीकृता कर्णातिथीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणक आगन्तुरतिथिस्तथे'ति हलायुधः । अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तत्कथा तद्गुणवर्णना अधैर्यधारिणोत्यन्ताधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी भवेत् 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इत्यमरः । 'पाय्यसाम्नाय्ये'त्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ।

अन्वयः—खग, जनैः मम श्रवणप्राघुणिकीकृता अमितं मधु तत्कथा अधैर्यधारिणः मम मदनानलबोधने धाय्या अभवत्—(इति) धिक् ।

हिन्दी—हे विहंग, लोकजनों द्वारा मेरे कानों की अतिथि बनायी गयी (सुनायी गयी) प्रचुर मधु-सम मीठी उसकी कथा मुझ अधीर व्यक्ति के कामज्वर को दीप्त करने में सामिधेनी—अग्नि दीप्त करनेवाली ऋचा (अग्नि-प्रज्वलन-मंत्र) बन गयी—सो धिक्कार है मुझे ।

टिप्पणी—दमयंती की कथा तो अमृत समान मीठी है, पर हाय रे हतभाग्य नल, उसके निमित्त वह अग्निसमिन्धनी सामधेनी ऋचा प्रमाणित हुई । 'सुधावधीरणी' कथा का ज्वलन-सहायिका बन जाना दुर्भाग्य ही है । 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोगी होने पर परिणाम अलंकार होता है—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।' इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ दमयंती-कथा के धाय्या रूप में प्रकृतमदनाग्नि के इंधनस्वरूप उपयोग से परिणाम अलंकार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-रूपक-अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है । पद्य के प्रथम चरण में रूपक और मदन में अनलत्व के आरोप का कथा में मंत्रत्व के आरोप में निमित्त होने से अश्लिष्ट शब्द-निबंधन परंपरितरूपक मान कर चंद्रकलाकार ने दोनों रूपकों का अंगांगिभाव-संकर माना है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः ।
वत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

जीवातु—विषम इति । विषमः प्रतिकूलः कालकलत्रदिग्भवः यमदिग्भवः प्राणहर इति भावः, पवनो दक्षिणमारुतः तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्नि-समिधा तद्दाह्येनेत्यर्थः । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घः तस्याः विषफूत्कारमय ऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः । लोके च 'अग्निरेधांसि फूत्कारवातैर्ध्मायत' इति भावः । वतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापि-तेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति संकरः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—कालकलत्रदिग्भवः विषमः पवनः तद्विरहानलैधसा मया मल-याहिमण्डली विषफूत्कारमयः ऊहितः बत !

हिन्दी—खेद कि यमराज की भार्यारूपा दक्षिण दिशा में उत्पन्न दुःसह पवन को उस (दमयंती) के विरहानल के ईंधन मैंने मलयाचल की सर्प मण्डली के विषभरे फूत्कार—सदृश मानने की क्लिष्ट कल्पना की ।

टिप्पणी—मलय का शीतल, मद, सुगन्ध समीर दमयंती को वियोगाग्नि में दग्ध होते नल को मलय-चन्दन-वृक्षों पर लिपटे नागों का फूत्कार-सदृश प्रतीत होता था । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोत्थापिता उत्प्रेक्षा होने से संकर, विद्या-धर की दृष्टि में काव्यलिंग और रूपक अलंकार और पदार्थ में वाक्यार्थ प्रति-पादन से ओज गुण ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रति-दर्शमित्यर्थः । वीप्सायामव्ययीभावः । दिनाधिपं सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्ततः प्राप्ते, स निशाकरः तीव्रतरैरत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभिः करैः सौरैः तत आनीतैः मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्गः, किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाह्यार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

अन्वयः—खग, असौ निशाकरः प्रतिमासं यत् दिनाधिपं सङ्गच्छति किमु ततः सः तीव्रतरैः धैर्यतस्करैः करैः मम दाहाय ?

हिन्दी—हे आकशचारी (हंस), यह निशाकर (चंद्र) प्रत्येक महीने

जो सूर्य में संगमन करता है, सो क्या वह अत्यंत तीक्ष्ण, धीरज की तस्कर किरणों द्वारा मुझे जलाने के लिए उससे मिलता है ?

टिप्पणी—विरही को शीतल चंद्र-किरणें भी दाहक प्रतीत होती हैं। इसके कारण की यह संभावना की गयी है कि चंद्र प्रतिमास जो सूर्य राशिस्थित होता है, सो उससे यह दाहकता ले आता है। स्वयम् तो हानि पहुँचा नहीं सकता तो अन्य की सहायता से पहुँचाता है। आकाशचारी ग्रहों का भेद आकाशचारी ही जान सकता है, 'खग' सम्बोधन की यही सार्थकता है—खे आकाशे गच्छति खगः। 'सङ्गमन' को 'दाहार्थता' में उत्प्रेक्षा के कारण फलोत्प्रेक्षा (जीवातु), अनुपमान (साहित्यविद्याधरी) ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

जीवातु—कुसुमानीति। स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमशनिः सद्योमरणाभावादिति भावः। तत्तथा अस्तु किन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि। यद्यस्मादमूः स्मरेषवः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुह्यतेर्णौ चङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्रत्ययः। अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेर्णौ चङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

अन्वयः—स्मरेषवः कुसुमानि यदि न वज्रं तु तत् विषवल्लिजानि (अथवा यदि स्मरेषवः विषवल्लिजानि कुसुमानि न तु तत् वज्रम्), यत् मम हृदयम् अमूमुहन् यत् च अतितमाम् अतीतपन्।

हिन्दी—यदि काम के बाण फूल है, वज्र नहीं, तो वे विषवल्लरी से उत्पन्न हुए हैं (अथवा यदि कामबाण विषलता से उत्पन्न फूल नहीं हैं तो वे वज्र हैं), जो कि मेरे हृदय को उन्होंने मूर्च्छित कर दिया और जो कि अत्यंत संतप्त किया।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयंती के वियोग में नल का हृदय वेसुध और अतिसंतप्त है, पुष्पबाण विषवल्ली से जन्मे हैं, अतः विमोहित करनेवाले हैं, वे

वज्र हैं, सो दाहकता से युक्त हैं। विद्याधर के अनुसार अनुपमान और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

जीवातु—तदिति। तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यये'त्यमरः। तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, अव्ययानाम्भमात्रे टिलोपः तद्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं भाग्यादागत इत्यर्थः। त्वं पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रन्तु पोत' इत्यमरः। अवलम्बनं भव ॥

अन्वयः—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराधिनीरधौ निमज्जतः मम विधिन आकस्मिकसृष्टसन्निधिः पोत इव अवलम्बनं भव।

हिन्दी—सो इस निर्मर्याद कामबाणजातव्यथा-समुद्र में डूबते मेरे विधाता द्वारा जो अकस्मात् निकट भेज दिया गया है, उस जलयान की भाँति आश्रय बनो।

टिप्पणी—विरह-व्यथा-सागर में डूबते नल को हंस दैवादिष्ट जलयान के समान सहायक—आलंबन प्रतीत हुआ। रूपक-उपमा की संसृष्टि ॥ ६० ॥

अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ?।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

जीवातु—अथवेति। अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति नियमात् कर्त्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्त्रर्थलाभः। भवतः 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्त्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि ? स्वतः प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः। हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानमि'ति मीमांसकाः। सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः। उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः।

अन्वयः—अथवा नः इयं भवतः प्रवर्त्तना कथं पिष्टं न पिनष्टि, हि यथा ग्रहणानां यथार्थता स्वतः एव (तथा) सतां परार्थता (अपि स्वतः एव)।

हिन्दी—अथवा जो यह मैं आपको प्रवर्त्तित कर रहा हूँ, वह क्या पिष्ट-पेषण नहीं है ? (है ही), कारण कि जैसे ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं वैसे ही सज्जनों की परोपकार शीलता भी स्वतः होती है।

टिप्पणी—मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वयम् अपना प्रमाण होता है—गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानम् । इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को परतः प्रमाण मानते हैं। सज्जन अप्रवर्तित ही परोपकाररत रहते हैं। भर्तृहरि के अनुसार स्वार्थ त्याग कर परार्थघटक सत्पुरुष कहाते हैं—'सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य...।' मल्लिनाथ के अनुसार उपमासंसृष्ट अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार निदर्शना वाक्यदृष्टान्तालङ्कार ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥ ६२ ॥

जीवातु—तवेति । हे वयः ! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्ततां, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं स्मरणीयाः । अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तव वर्त्मनि शिवं वर्तताम्, त्वरितं पुनः समागमः अस्तु, अपि साधय, ईप्सितं साधय, वयः, समये वयं स्मरणीयाः ।

हिन्दी—मार्ग में तेरा कल्याण हो, शीघ्र ही फिर (तेरा-मेरा) मिलन हो, जाओ और अभीष्ट-साधन करो, हे पक्षी, यथासमय हमारा स्मरण करना।

टिप्पणी—राजा ने 'शिवाः सन्तु ते पन्थानः'—कहते हंस से विदावचन कहे। छोटे-छोटे नाट्योपयोगी वाक्य कवि के संवाद-कौशल के परिचायक हैं। 'आशीः' नामक नाटचालंकार। दंडी के अनुसार अभिलषित वस्तु का आशंसन आशीः होता है—'आशीर्नामालङ्कारेऽभिलषिते वस्तुत्वाशंसनम् ।' चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ छेकालंकार और ओज नामक काव्य लक्षण है ॥ ६२ ॥

इति तं स विसृज्य धैर्य्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥ ६३ ॥

जीवातु—इतीति । धैर्यवानुपायलाभात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादिषु

वृहस्पतिः तथा प्रगल्भ इत्यर्थः। 'सूनृतं च प्रिये सत्यमि'त्यमरः। स नृपतिरितीत्थं हंसं विसृज्य श्रुतिलग्नैः श्रोत्रप्रविष्टैः कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म भोगगृहमविशत् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—धैर्यवान् सूनृतवाग्वृहस्पतिः सः नृपतिः इति तं विसृज्य श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः विस्मितः वनवेश्म अविशत्।

हिन्दी—धैर्यशाली, सत्य और प्रिय वाणी बोलने में वृहस्पतिसम प्रगल्भ वह नरराज इतना कह हंस को भेज कर कानों में लगे (प्रिय होने के कारण अविस्मरणीय) सुन्दर हंस के कहे हुए (अथवा हंस के रमणीय अथवा गंभीर वचनों) पर विस्मित होता वाटिका-गृह में प्रविष्ट हो गया।

टिप्पणी—नल के धैर्य, सत्यवादिता और प्रियवादिता का विवरण। राजा ने हस को कार्य-साधनार्थ भेजकर वाटिका में ही उसके लौट आने तक प्रतीक्षा करने का निर्णय लिया। विद्याधर के अनुसार दीपक और अतिशयोक्ति। चंद्रकलाकार के अनुसार 'सूनृतवाग्बृहस्पतिः' में लुप्तोपमा ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथेति। अथ सोऽण्डजो हंसः तदहरेव भीमसुतायाः भैम्या अवलोकनैः सफलं कर्तुं तस्मिन्नेव दिने तां द्रष्टुमित्यर्थः। क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलंकारभूतं कुण्डिनं कुण्डिनाख्यनगरं ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अथ सः अण्डजः तत् अहः एव भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुं क्षितिमण्डलमण्डनायितं कुण्डिनं नगरं ययौ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पक्षी उसी दिन भीमतनया (दमयंती) के दर्शनों द्वारा (अपने को) सफल करने के निमित्त पृथ्वीमण्डल के अलंकार बने कुंडिनपुर की ओर चल दिया।

टिप्पणी—कुंडिन नगर समृद्धि के कारण तो रमणीय था ही, दमयंती के कारण वह पृथ्वीमण्डल का शृंगार बन गया था। अनुप्रास और उपमा अलंकार ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

जीवातु—अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह-प्रथममित्यादिना । सः कलहंस प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां प्रस्थातृणां प्रार्थितस्य इष्टार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसम्भृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रे कलयांबभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सः कलहंसः प्रथमं पथि पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं जलसम्भृतं कलसं पुरः लोचनातिथिं कलयाम्बभूव ।

हिन्दी—उस कलहंस ने पहिले मार्ग में पथिकों के अभीष्ट की सिद्धि के द्योतक जलपूर्ण कलस को संमुख नेत्रों का अतिथि बनाया (देखा) ।

टिप्पणी—उद्देश्य सिद्धि के द्योतक शुभ शकुनों का तीन श्लोकों (६५-६७) में विवरण प्रस्तुत किया गया है, इस में जलपूर्ण कलश का विवरण है । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार अनुप्रास और उपमा, चंद्रकलाख्या के अनुसार वृत्यनुप्रास और छेकानुप्रास का एकाश्रयानुप्रवेशसंकर ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्य्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—अवलम्ब्येति । स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्वस्तुदर्शनिमित्तेन अद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गतं सम्बद्धम्, 'आम्रश्चूतो रसालोऽसा' वित्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सः दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् आश्चर्यरसालसं गतम् अवलम्ब्य अवनीभुजो विलासवने रसालसङ्गतं फलम् ऐक्षिष्ट ।

हिन्दी—उस (हंस) ने देखने की इच्छा से आकाश में क्षण भर विस्मयरस से मंद गति का अवलंबन कर राजा की विलासवाटिका में आम्रवृक्ष पर लगे फल को देखा ।

टिप्पणी—वृक्ष पर लगा फल दीखा, एक और शुभशकुन हुआ। 'आश्चर्य-रस' में स्वशब्दवाच्यत्व नामक रसदोष। विद्याधर के अनुसार असंदष्ट यमक अलंकार, चंद्रकलाकार के अनुसार प्रथम-चतुर्थ-चरण में आये दो अन्त्ययमकों की संसृष्टि॥ ६६॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम्।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम्॥ ६७॥

जीवातु—नभस इति। पुमान् गौः वृषभः विशेषणसमासः, 'गोरतद्धितलुगि'ति समासान्तष्टच् स इव पतङ्गपुङ्गवः पक्षिश्रेष्ठ उपमितसमासः, नभसः कलभैः खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः। जलदैरुपासितं व्याप्तं भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगा यस्य तं विटपैः शाखाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमरः छन्नतराः अतिशयेन छादिताः क्षुपा ह्रस्वशाखाः, 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुप' इत्यमरः। नगं पर्वतं ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमि'ति निमित्तज्ञाः।

अन्वयः—सः पतङ्गपुङ्गवः कलभैः जलदैः उपासितं भूरितरक्षुपं विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगं नगं ददर्श।

हिन्दी—आकाशचारियों में श्रेष्ठ उस (हंस) ने हस्तिशावकों जैसे मेघों से व्याप्त, प्रचुर शाखा-वल्लरियों से युक्त छोटे-छोटे वृक्षों से परिपूर्ण वृक्षों में छिपे तेंदुए और सर्पों से भरा पर्वत देखा।

टिप्पणी—यात्रा में हाथी का मिलना शुभ माना जाता है, अतः पर्वत-शिखरों पर छाये मेघों की 'कलभ' रूप में कल्पना की गयी, हिंस्र पशु और सर्प का दीखजाना अशकुन माना जाता है, अतः उनके अदर्शन के निमित्त उनका वृक्षों में छिपा हो जाना बताया गया। पर्वत पर 'यह सब' होता ही है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और असंदष्टयमक अलंकार हैं, 'चंद्रकलाख्या' के अनुसार रूपक और अंत्ययमक॥ ६७॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ ६८॥

जीवातु- स इति। स हंसः क्षणं धुतपक्षतिः कम्पितपक्षमूलः क्षणम् ऊर्ध्वा-

यनेन ऊर्ध्वगमनेन दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः। पिततीकृतौ विस्तारीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टृणां दत्तकौतुकः सन् ययौ। स्वभावोक्तिः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—सः क्षणं धुतपक्षतिः क्षणम् ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः क्षणं वितती-कृतनिश्चलच्छदः आलोककदत्तकौतुकः सन् ययौ।

हिन्दी—वह (हंस) क्षण भर पक्षमूलों को कंपित करता, क्षण भर ऊँचे उड़ने के कारण दुर्लक्ष्य होता, क्षणभर निश्चल पंखों को फैलाता अतएव दर्शकों में कौतुक उत्पन्न करता उड़ा।

टिप्पणी—इस प्रकार विविध शैलियों में उड़ना पक्षि-स्वभाव है, फलतः मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलंकार, 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार दीपक-जाति का संकर। यहाँ से पाँच श्लोकों (६८-७२) में तीव्र गति से उड़ते हंस का वर्णन है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

जीवातु—तन्विति। असौ हंसो रयाद्धेतोः उत्पन्नयेति शेषः। लोकस्य आलोकिजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकनां दर्शनं गतया कौतुकाद्वर्णपरीक्षां च विलोक्यमानयेत्यर्थः। तनोः शरीरस्य तन्वा सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मि-रेखया निमित्तेन कषपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवालसत् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६९ ॥

अन्वयः—असौ रयात् लोकविलोकनां गतया तनुदीधितिधारया कषपाषा-णनिभे नभस्तले छदहेम कषन् इव अलसत्।

हिन्दी—वह (हंस) वेग के कारण जन-गोचरता को प्राप्त (दीखती) शरीर की किरणों भी धार से (अथवा तीव्र गमन वेग से कृश दीखती दीप्ति धारा से) कसौटी के पत्थर के समान आकश-तल में पंखों-का स्वर्ण कसता जैसा सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—स्वर्णहंस के शरीर की चमक जब आकाश में रेखा-सी खिंचती

तो लगता कि कसौटी पर कसे गये सोने की लकीर है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और उपमा, जिसमें उत्प्रेक्षा की अंगभूता है। इसे चंद्रकलाकार ने उपमा उत्प्रेक्षा का संकर कहा है॥ ६९॥

विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
न निरक्षि दृशैकयोपरि स्यदसांकारिपतत्रिपद्धतिः॥ ७०॥

जीवातु—विनमद्भिरिति। स्यदेन वेगेन सांकारिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा पतत्रिपद्धतिः पक्षसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अतएव विनमद्भिर्विलीयमानैरधःस्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षितः। कर्मणि लुङ्। स्वभावोक्तिः॥ ७०॥

अन्वयः—स्यदसाङ्कारिपतत्रिपद्धतिः सः श्येननिपातशङ्किभिः विनमद्भिः अधः स्थितैः खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरैक्षि।

हिन्दी—वेग के कारण 'सां सां' करते पंखों वाला वह (हंस) बाजपक्षी के आक्रमण की शंका कर नीचे झुकते, अतएव निम्न भाग में जाकर उड़ते आकाशचारियों (पक्षियों) द्वारा झटपट ऊपर एक निगाह से ही देखा गया।

टिप्पणी—हंस इतने वेग से उड़ा जा रहा था कि उसके पंखों से 'सां-सां' की ध्वनि हो रही थी, अतएव अन्य उड़ते विहंगों को शङ्का हुई कि कहीं यह आक्रांता श्येन न हो, सो वे ऊपर केवल एक दृष्टि डाल कर उससे त्राण पाने को और नीचे जाकर उड़ने लगे। मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, विद्याधर के अनु सार जाति और काव्यलिंग॥ ७०॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात्।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः॥ ७१॥

जीवातु—दृश इति। यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः असौ हंसः भुवि तच्छायं तस्य हंसस्य च्छायां 'विभाषा सेने'त्यादिना नपुंसकत्वम्। अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथमं दिशि पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन् न ददृशे न दृष्टः। क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः॥ ७१॥

अन्वयः—भुवि तच्छायम् अवेक्ष्य तत्क्षणात् दिवि दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा जनेन पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः असौ यन् न ददृशे ।

हिन्दी—धरती पर पड़ती उसकी छाया देख कर उसी क्षण से आकाश और उड़ने की दिशाओं की ओर आँखें उठाकर देखते जनसमूह द्वारा अत्यंत तीव्र गति के कारण नयनपथ से ओझल होता वह (हंस) उड़कर जाता न दीख पड़ा ।

टिप्पणी—लोक जब तक ऊपर आँख उठा कर देख सके तब तक तो तीव्र गति से उड़ता हंस आँख-ओझल हो गया । विद्याधर ने इस श्लोक में काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास अलंकार माने हैं, चंद्रकलाकार ने केवल काव्यलिंग का निर्देश किया है ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—नेति । गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रुणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये । सगोत्रजं बन्धुजन्यं रुतं कूजितं वा नान्ववादि नानूदितम् । मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धान-परोक्तिः 'पलाशो द्रुद्रुमागमा' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—गतिवेप्रगसरद्रुचा अमुना पथि क्वचित्, अपि उच्चतरद्रुचारुतं वनं न शिश्रिये सगोत्रजं रुतं वा न अन्ववादि ।

हिन्दी—उड़े जाने के वेग के कारण जिसकी शोभा का प्रसार हो रहा था, ऐसे इस (हंस) ने मार्ग में कहीं ऊँचे-ऊँचे द्रुमों (वृक्षों) की सुषमा से मंडित वन में आश्रय नहीं लिया और न अपने कूजन करते सगोत्र हंसों के साथ संलाप किया ।

टिप्पणी—ऊँचे वृक्ष देख कर वन में विश्राम करना और सजातीय पक्षियों के साथ कूजन-संलाप करना पक्षि-स्वभाव है, किंतु शीघ्र पहुँचने के आकांक्षी राज हंस ने इस स्वभाव का व्यतिक्रम किया । यमकालङ्कार ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

जीवातु—अथेति । धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विपि तुक् भीमस्य भीमभूपस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजिता मञ्जुर्मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः । अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः ॥

अन्वयः—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हरशैलोपमसौधराजिता मञ्जुः असौ नगरी पतगस्य दृक्पथं जगाम ।

हिन्दी—तदनन्तर पृथ्वीजयी राजा भीम की भुजा द्वारा रक्षित शिव-पर्वत कैलास सदृश प्रासादों से शोभित वह कुंडिनपुरी हंस के दृष्टिपथ को प्राप्त हुई (दीखी) ।

टिप्पणी—इस श्लोक से आरम्भ करके 'विधुकर'''भैमीवनेन' (श्लोक संख्या १०६) तक ३४ श्लोकों में कुंडिन पुरी का वर्णन है । अंततो गत्वा हंस को कुंडिन पुरी दिखायी दी । वह ऊँचे और सफेदी किये–सुधाधवल प्रासादों से युक्त थी, यह द्योतित करने के लिए 'हरशैलोपमसौधराजिता' कहा गया । 'भीमभुजेन' का भीमौ शत्रूणां भयजनकौ भुजौ यस्य तेन–विग्रह करके पृथ्वीजयी राजा के शत्रुभयजनक भुजाओं से पालित' अर्थ भी किया गया है । 'प्रकाश—कार ने 'असौ धराजिता' का 'असौधराजिता' पाठ कल्पित कर 'सौधराजिता-असौधराजिता' में विरोधाभास का उल्लेख किया है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में समासोपमा और यमक अलंकार हैं तथा मल्लिनाथ की दृष्टि में 'यमकाख्यानुप्रास–उपमा' की संसृष्टि है । चंद्रकलाकार ने विरोधाभास-यमक-अनुप्रास-उपमा की संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः ॥ ७४ ॥

जीवातु—तां वर्णयति–दयितमिति । यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थः । अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः शशाङ्क-

शकलनिष्कलङ्कानि कुड्यानि येषान्ते 'भित्तं शकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्विप्प्रत्ययः। 'भित्तं शकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठानत्वाभावः। गृहाः दयितं भीमं प्रति सन्ततं भुवः भूमेर्नायिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा॥ ७४॥

अन्वयः—यत्र स्फटिकोपलविग्रहाः शशभृद्भित्तिनिरङ्कभित्तयः गृहाः दयितं पति सन्ततं भुवः रतिहासाः इव रेजिरे।

हिन्दी—जिस नगरी में स्फटिकरत्नमय शरीर धारी (स्फटिकरत्नों से निर्मित), शशांक (चंद्र) के खंड (कला) के तुल्य निष्कलंक दीवारों वाले घर स्वामी (राजा) के प्रति प्रवृत्त पृथ्वी के सुरतकेलिसमय के हासों के समान सुशोभित थे।

टिप्पणी—गृहों की समृद्धि जनित शोभा के वर्णन के साथ ही 'रतिहास' के साम्य द्वारा कवि यह द्योतित करना चाहता है कि भीमनरेश पृथ्वी का प्रिय पति 'दयित' था, जिसके साथ वह निरंतर रतिकेलि में निमग्न रहती थी। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है। चंद्रकलाकार उत्प्रेक्षा-उपमा की संसृष्टि का निर्देश करते हैं॥ ७४॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेयत्र भयेन भास्वतः।
शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः॥ ७५॥

जीवातु—नृपेति। यत्र नगर्यां तमोन्धकारः भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपधेश्छलादित्यपह्नवभेदः। 'रत्नं मणिर्द्वयोरि'त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष्। शरणाप्तं शरणं गृहं रक्षितारमन्वागतं 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'त्यमरः। वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तममुद्यत्तमं सदुवास॥ ७५॥

अन्वयः—यत्र भास्वतः भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपधेः शरणाप्तं तमः वासरे अपि असदावृत्ति उदयत्तमम् उवास।

हिन्दी—जहाँ सूर्य के भय से राजा के नीलमणि से बने गृहों की नील कांति के व्याज से शरण-प्राप्त अंधकार दिन में भी आवृत्तिहीन उदय को प्राप्त होता निवास करता था।

टिप्पणी—आशय यह है कि कुंडिनपुरी में ऐसे इन्द्रनीलमणिनिर्मित प्रासाद भी थे, जिनकी नीलिमा पर सूर्य भी अप्रभावी था। जो अंधकार एक बार आ गया, वह फिर उन भवनों से सूर्य से आक्रांत होने की आशंका के कारण वापस ही नहीं गया, इन्द्रनीलमणियों की नीलिमा में मिलकर घरों के भीतर ही रह गया। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव, विद्याधर की दृष्टि में अपह्नुति, विभावना और उदात्त अलंकार। चंद्रकलाकार की दृष्टि में समासोक्ति और उदात्त की संसृष्टि ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥ ७६ ॥

जीवातु—सितेति। सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हसदङ्करोदसि विलसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः। यदगारे यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः। जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः। 'एकादाकिनिच्चासहाय' इति चकारात् कप्रत्ययः। 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये' तीकारः। पूर्णिमा तिथी राकातिथिः। 'तदाद्यास्तिथयोरि' त्यमरः। अतिथिः सन् उपतस्थे अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम्। स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥

अन्वयः—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते हसदङ्करोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथिन् अतिथिः एकिका तिथिः पूर्णिमा उपतस्थे।

हिन्दी—दीप्तिमय श्वेत स्फटिकमणि-निर्मित, (अतएव) समीपस्थ धरती-आकाश विहसित (प्रकाशित) करने वाले (अथवा धरती-आकाश के मध्य को प्रकाशित करनेवाले) जिस नगरी के गृहों में रात्रि में समग्र तिथियों की अतिथिभूता एक तिथि पूर्णिमा ही रहा करती थी।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमकती स्फटिक मणियों के बने शुभ्र गृहों में वहाँ रात में भी चाँदनी जैसा प्रकाश फैला रहता था, लगता था प्रत्येक रात्रि पूर्णिमा है। स्फटिक मणियों से निकलते प्रभापटल के कारण घरों में

थोड़ा-सा भी अंधकार न रह पाता था, सो प्रत्येक तिथि जो पूर्णिमा ही की भ्रांति हो जाया करती थी। मल्लिनाथ ने भेद होने पर भी अभेद-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति मानी है, विद्याधर के अनुसार यहाँ असंबंध में संबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति के अतिरिक्त तिथियों में गृह-व्यवहार समारोप से समासोक्ति और पूर्णिमा के अतिथिभाव के कारण रूपक भी है, शब्दालंकार अनुप्रास है ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

जीवातु—सुदतीति। यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि विधानाभावाद्त्रादेशश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्चे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दत्रादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः—'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति। ता एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहार्दर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषायिताशया सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धावि'ति विश्वः। तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादिलच् दिवादिः। मानिनीस्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः तद्वती नायिकेव अखिलया निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः। न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—यत्र सुदतीजनमज्जनार्पितैः घुसृणैः कषायिताशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिलया निशा अपि न प्रससाद।

हिन्दी—जिस नगरी में सुन्दर दाँतों वाली सुन्दरी-समूह की जलक्रीडा से वितीर्ण कुंकुमागरागों से गँदले जल वाली बावड़ी पूरी रात भी उसी प्रकार प्रसादित--स्वच्छ नहीं रहती थी, जैसे कि (सपत्नीजन में प्रतिफलित प्रिय के) कुंकुमांगराग को देख दूषित मन वाली, दुराग्रहयुक्ता मानवती नारी (प्रिय के द्वारा भाँति-भाँति से मनाये जाने पर भी) अशया (जागी) रहकर रात में भी प्रसन्न नहीं होती है।

टिप्पणी—भाव यह कि स्नान और जलक्रीडा इतनी अधिक हुआ करती

थी कि स्नानार्थिनी सुन्दरियों के शरीर से छूटकर जल को मैला बनाने वाला अंगराग रात-दिन बावड़ियों में घुला ही रहता था। दुराग्रहवती मानिनी भी निशा काल में जागी रहकर प्रिय की मानमनौअल से प्रसन्न नहीं होती। उपमा और उदात्त अलंकार ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया !
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरवाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

जीवातु—क्षणेति। निशि निशीथे क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वादन्यत्र ध्यानस्तिमितत्वान्निःशब्दमाश्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यथा सा तथोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममयं तद्रूपं निर्मलमवाह्यमन्तर्वर्ति किमपि अवाङ्मनसगोचरं ज्योतिः प्रभा आत्मज्योतिश्च ईक्ष्यते सेव्यते स्म। अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः।

अन्वयः—निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यथा मणिवेश्ममयं निर्मलम् किमपि अबाह्यं ज्योतिः ईक्ष्यते स्म।

हिन्दी—मध्य रात्रि में क्षण भर को निःशब्द हो प्राकारपंक्तिरूप योगपट्ट का आश्रय ले जिस (कुंडिनपुरी) के द्वारा रत्नगृहरूप निर्मल किसी (अवाङ्मनोविषया) आभ्यंतर ज्योति (आत्म ज्योति) का दर्शन किया जाता था।

टिप्पणी—आशय यह है कि दिन भर कर्मसंकुला कोलाहल से पूर्ण कुंडिन पुरी में आधी रात को जाकर कहीं कुछ शांति—निःशब्दता आती थी। इसकी उद्भावना निःशब्द हो, योगपट्ट का सहारा ले आत्मज्योति का साक्षात् करती ध्यानमग्ना योगिनी की समता द्वारा की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ समासोक्ति है, क्योंकि प्रस्तुत नगरी के साम्य द्वारा अप्रस्तुत योगिनी की प्रतीति होती है। विद्याधर के अनुसार उदात्त अलंकार है ॥ ७८ ॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥७९॥

जीवातु—विललासेति। या नगरी परिखायाः कपटेन व्याजेन स्फुटं परितो व्यक्तं तथा स्फुरता प्रतिबिम्बेनावलम्बितं मध्ये चागृह्यमाणं चाम्बु

यस्मिन् तस्मिन् प्रतिविम्बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति प्रतिबिम्बदेशेन स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भावः क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः। अनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरमरावतीव विललासेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

अन्वयः—या परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिविम्बानवलम्बिताम्बुनि क्वचन जलाशयोदरे अनुबिम्बिता द्यौः इव विललास।

हिन्दी—जो (कुंडिनपुरी) खाई के व्याज से व्यक्त, स्फुरित होते अपने प्रतिविम्ब से निराधार जल में कहीं जलाशय के मध्य प्रतिबिम्बित होती स्वर्गपुरी जैसी विलसित होती थी।

टिप्पणी—नगरी के चारों ओर जल भरी विशाल खाई थी, जिसमें कहीं-कहीं नगरी की परछाई स्पष्ट होती थी, लगता था कि स्वर्गपुरी ही जल में उतर आयी है। जहाँ-जहाँ परछाई पड़ती थी, वहाँ नगरी ही दीखती थी जल नहीं। उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने इसके अतिरिक्त अपह्नुति भी मानी है, क्योंकि 'परिखा नहीं, जलाशय ही है'—ऐसी भावना भी बनती है। चंद्रकलाकार ने कैतावापह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का उल्लेख किया है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥ ८० ॥

जीवातु—व्रजत इति। यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चलाः पताकाग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः। ताः कर्त्र्यो दिवि व्रजते खे गच्छते हेलिहयालेः सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिरालिङ्गने रवावि'ति वैजयन्ती। कालनां चोदनां सृजते कुर्वते अरुणाय सूर्यसारथये विश्रमं स्वयं तत्कार्यकरणाद्विश्रान्तिं 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना घञि वृद्धिप्रतिषेधः। व्यतरन् ददुः। अत्र हेलिहयालेश्चेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्तम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, तेन गृहाणामर्कमण्डलपर्य्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८० ॥

अन्वयः—यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः दिवि व्रजते हेलिहयालिकालनां सृजते अरुणाय विश्रमं व्यतरन्।

हिन्दी—जिस (नगरी) के प्रासादों पर फहराती चंचल पताकाओं के वस्त्र-प्रांत-रूप डंडों के प्रहार आकाश मंडल में दौड़ते सूर्य के घोड़ों को प्रेरणा देते सारथि अरुण को विश्राम दिया करते थे।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी के उच्च प्रासादों पर जो पताकाएँ फहरती थीं, वे सूर्याश्वों के शरीर पर लग-लग कर हाँकने के दंड का काम किया करती थीं, जिससे सूर्य-सारथि को विश्राम मिल जाता था। मल्लिनाथ के अनुसार असंबंध में संबंध कथन के कारण अतिशयोक्ति, जिससे प्रासादों की अत्युच्चता व्यंजित होती है, अतः अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि। विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और अनुप्रास ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक् ।
जगतां खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥८१॥

जीवातु—क्षितीति । तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि निजचिह्नानि निध्यन्वपानसक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सारैरुत्कृष्टैः क्षितिकुहरे धरायां भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहाः तैः भूम्यन्तर्बहिः । शिरोगृहैरित्यर्थः । या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता । 'दीपजने' त्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ्, च्लेश्चिणादेशः । अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥

अन्वयः—तलमध्योपरिपूरिणां जगतां पृथक् चिह्नधारिभिः सारैः क्षितिगर्भधराम्बरालयैः या अखिला अद्भुता अजनि खलु ।

हिन्दी—तल (निम्न प्रदेश पाताल), मध्य (धरती), उपरि (आकाश)-संज्ञक सृष्टियों (पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग) के पृथक्-पृथक् चिह्न धारण करने वाले सार (श्रेष्ठ) अंशों से निर्मित पाताल, पृथ्वी, आकाश-त्रिलोकी के आवासों से (युक्त) जो संपूर्ण नगरी विचित्र ही निर्मित हुई थी।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी में त्रिभूमिक–तितल्ले घर थे, तहखाने (पाताल

के प्रतीक), उनके ऊपर के खंड (क्षिति के प्रतीक), उनके ऊपर (आकाश के प्रतीक), जिनमें क्रमशः इन तीनों के प्रतीकस्वरूप संपत्ति, धान्यादि और चंदनादि-भोग सामग्री रहती थी, जिससे प्रतीत होता था कि नगरी के आवास त्रिलोकी के सारभूत तत्त्वों से निर्मित हैं। इस प्रकार वह नगरी तीन लोक से न्यारी लगती थी। मल्लिनाथ के अनुसार यथासंख्य, विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और उदात्त तथा चंद्रकलाकार के अनुसार व्यतिरेक अलंकार ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

जीवातु—दधदिति । यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गजश्च यस्य तस्य भावस्तत्तां 'कण्ठो गले सन्निधान' इति विश्वः । दधत् अच्छया सुधया लेपनद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे'त्यमरः । क्षितिभृन्मन्दिर राजभवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु ? गच्छत्वेवेत्यर्थः । राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः । अन्यत्र नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः । अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यत्र अम्बुदनीलकण्ठतां दधत् अत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः वहत् क्षितिभृन्मन्दिरम् इन्दुमौलितां कथं नाम न ऋच्छतु ?

हिन्दी—जिस (नगरी) में घिरे बादलों के कारण ऊपरी भाग और चूना-पोता होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ सफेद शरीर (आवास-स्थल) धारण करता धरणीधर (राजा) का महल मेघश्यामकंठ वाले और निर्मल चाँदनी (अथवा अमृत) के समान शुभ्र देहधारी चंद्रमौलि (शिव) के भाव को (मौलि अर्थात् शिखर पर चंद्रमा को) क्यों न प्राप्त करे ? (करे ही) ॥

टिप्पणी—राजमहल बहुत ऊँचा है, जिससे घिरे बादलों के कारण उसका ऊपरी भाग नीला दीखा करता है और ऐसा लगता है कि चंद्रमा जैसे उसके

शिखर पर ही टँगा है। वह (राजप्रासाद) सफेदी किये जाने के कारण अत्यन्त उज्ज्वल भी है। शिव नीलकंठ, कर्पूरगौर और चंद्रमौलि हैं। ये तीनों विशेषताएँ राजप्रासाद में भी उपर्युक्त प्रणाली से स्पष्ट हैं, अतः उसकी तुलना नीलकण्ठ, सुधोज्ज्वल, चंद्रमौलि शिव से की गयी। समस्त गुण होने के कारण यह शिवत्व, यह उन्नतभाव प्राप्त करना उचित ही है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्ट विशेषण-विशेष्यों का प्रकृतार्थ मात्र नियंत्रण होने से प्रकृत शिवप्रतीति के कारण यहाँ ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ श्लेषालंकार का निर्देश किया है, चंद्रकलाकार असंबंध में संबंध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति मानते हैं।

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

जीवातु—बह्विति। बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते यस्यां नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः कुक्षिगतीकृता इव ग्रस्ताः किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः।८३।

अन्वयः—बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृताः इव (दृश्यन्ते)।

हिन्दी—अत्यन्त सुन्दर आकार वाली पुतलियों के मुखचंद्रों पर स्थित लांछनमृग जिस नगरी के बहुसंख्यक प्रासादों की कंधराओं (मध्य स्थानों) में बने (कृत्रिम) सिंहों द्वारा मानों कुक्षिगत कर लिये (खा डाले) गये दीखते हैं।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी के अनेक प्रासादों में स्तम्भादि पर शालभंजिकाएं (पुतलियाँ) बनायी गयी हैं, उनके मुख अत्यन्त सुन्दर हैं, मृगचिह्नहीन चंद्र के समान। जब मुख चंद्र हैं, तब स्वाभाविकतया उन पर कलङ्कचिह्न मृग भी रहना उचित है, पर वैसा नहीं है। इसका कारण यह संभावित है कि प्रासादों की कंधराओं में बने (कृत्रिम) सिंह उन्हें खा गये। मल्लिनाथ

ने उत्प्रेक्षालंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और रूपक का, चंद्रकलाकार दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति के कारण संसृष्टि मानते हैं।

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः।
अधराथ कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

जीवातु—बलीति। स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः नारदः बलिसद्म-दिवं पातालस्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टाञ्चाह स्म उक्तवान्। अथेदानीं भूमिभूषया यया नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिसद्मद्यौर्विपरीता नारदोक्तविपरीता अजनि। सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधः स्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तथ्यवाक् सः नारदः बलिसद्मदिवं दिवः अपि उपरि आह स्म, अथ भूमिभूषया यया अधरा कृता इव सा विपरीता अजनि।

हिन्दी—सत्यवादी उन देवर्षि नारद ने बलिराज के आवास पाताल-स्वर्ग को द्यौ-स्वर्ग से भी ऊपर (ऊँचा, श्रेष्ठ) कहा था, परन्तु पृथ्वी को अलंकृत करनेवाली कुंडिनपुरी द्वारा जैसे नीची (न्यून, अवर, अंग्रेजी भाषा में 'डाउन') कर दी गयी वह (पातालपुरी) विपरीत (पुनः निम्नभागस्थिता) हो गयी।

टिप्पणी—नारद ने तो ठीक ही कहा था कि बलिराज का वैभव, उनका पाताल स्वर्ग को भी तिरस्कृत करने वाला है, पर कुंडिनपुरी के वैभव के सम्मुख पातालपुरी का वैभव भी नगण्य हो गया, तो अधःस्थित पाताल पुनः अधःस्थित हो गया। नारद के कथनानुसार पाताल स्वर्ग से समृद्ध था, कुंडिन पुरी पाताल से भी समृद्ध है, इस प्रकार कुंडिनपुरी पाताल-स्वर्ग दोनों से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। 'स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः। प्राह स्वर्गसदां मध्ये पातालेभ्यो गतो दिवि ॥' (विष्णुपुराण २।५–५)। मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार है, जिनका अंगांगिभाव 'संकर' चंद्रकलाकार द्वारा निर्दिष्ट है ॥८४॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

जीवातु—प्रतीति। पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथोक्तमाह्वकम् अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः। सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे। 'अव्ययं विभक्ती'त्यादिना वीप्सायाम-व्ययीभावः। 'तृतीयासप्तम्योर्बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः। घरट्टाः गोधूम-चूर्णग्रावाणः तज्जात् यस्या नगर्याः उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वनः निर्झर-स्वरः कण्ठध्वनिः घनान् मेघान् अधुनापि नोज्झति न त्यजति। सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः। अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जका-प्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ८५॥

अन्वयः—प्रतिहट्टपथे पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः घरट्टजात् यदुत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरः अधुना अपि घनान् न उज्झति।

हिन्दी—प्रत्येक हाट के मार्ग में पथिक का आह्वान करने वाले (अपनी ओर खींचने-वाले) सत्तुओं की सुगन्ध उड़ातीं आटा-चक्कियों के संघट्टन से जिस नगरी में उठा 'घर्घर' शब्द आज भी बादलों को नहीं छोड़ता।

टिप्पणी—भाव यह कि प्रत्येक हाट-बाजार में सत्तुओं की विपुलता है, सत्तू आदि पीसती चक्कियों से उड़ता सक्तु-सुगन्ध पथिको को आकृष्ट करता है। चक्कियों के पत्थरों की कलह—रगड़ से जो 'घर्घर' शब्द होता है, वही मानों बादलों में समा गया है, अन्यथा बादलों को गड़गड़ाहट कहाँ से मिलती ? यह भी माना गया है कि कुंडिनपुरी में बने सत्तू इतने सुगन्धि और स्वादिष्ट होते थे कि पथिक सक्तु भोजन के स्वाद में वहाँ रुक जाया करते थे और मेघ पथिकों को घर जाने की प्रेरणा दिया करते थे, यही 'घरट्ट मेघ-कलह' का कारण बराबर बना रहता था। मेघ पीडित करते हैं, सक्तु-परि-मलों से घरट्ट जिलाते हैं। घरट्ट पथिकों को आह्वान देते हैं, मेघ खंडन करते हैं। घरट्ट-मेघ कलह करते 'घर्घराते' रहते हैं। हाट-बाज़ारों में बराबर ऐसा कलह रहा करता है, ग्राहकों को एक दुकानदार पुकारता है, दूसरा उसका प्रतिवाद करता है, दोनों झगड़ते रहते हैं। कुंडिनपुरी का बाज़ार ऐसा ही व्यापार-संकुल हाट था। विद्याधर ने यहाँ अध्यवसाय के सिद्ध होने के आधार

पर अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने असंबंध में संबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति और गम्योत्प्रेक्षा के संकर का, क्योंकि घन-घरट्ट-कलह का हेतु घर्घर शब्द है, जिससे उत्प्रेक्षा होती है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्राकारः स एवामराद्रिर्मेरुः यां नगरीमेव मानिनीं कोपसम्पन्नामत एव अङ्कान्निजोत्सङ्गादागतां भूलोकं प्राप्तां दिवमरावतीं घने निविडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्षमूले यस्य स सन् परिरभ्य उपगूह्य मेरोः पक्षवत्त्वात्पक्षतिरूपत्वमनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास । कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन चेयं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ८६ ॥

अन्वयः—कनकस्य वरणः अमराद्रिः यां मानिनीम् अङ्कात् आगतां दिवं घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्य अनुनयन् उवास ।

हिन्दी—स्वर्ण प्राकार-रूप देवगिरि सुमेरु जिस मानिनी (नगरी) को गोद से छिटक आयी स्वर्गपुरी के तुल्य अनेक रत्नजटित कपाट-रूप पंखों से युक्त हो आलिंगन कर मनाता हुआ बस गया है ।

टिप्पणी—यहाँ नगरी की मानिनी नायिका स्वर्गपुरी से तुलना की है, जो अपने प्रिय सुमेरु से रूठ कर गोद से छिटक आयी है, प्राकार प्रिय सुमेरु, रत्नजटित किवाड़ उसके पंख और बाहु हैं, जिनसे उड़कर वह प्रिया के पास आ पहुँचा है और आलिंगन करके मानिनी को मना रहा है । प्रिया वहाँ से जाती नहीं, सो 'पखेरू' होते हुए भी प्रिय कहीं बस गया है । अर्थात् पुरी स्वर्गपुरी के तुल्य है और सुमेरु जितना उन्नत और दमकीला । मल्लिनाथ के अनुसार रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा व्यंग्य है, विद्यानाथ रूपक का निर्देश करते हैं और कहते हैं कि यहाँ समासोक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति रूपक से ही होती है । चंद्रकलाकार ने समस्तवस्तुविषय साङ्ग-

रूपक और लिंगसाम्य से नायक-नायिका-व्यवहार का समारोप मान कर समासोक्ति के अंगांगिभाव संकर का उल्लेख किया है ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपराद्धर्यताम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अनलैरिति । या नगरी रवेरुदयं लयमस्तमयं चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलानां वप्राज्जन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः अनलैः परिवेषमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य बाणपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य पराद्धर्यतां श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासंभवात्तादृशीं पराद्धर्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवेः उदयं लयम् अन्तरा ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः अनलैः परिवेषम् एत्य बाणपुरीपराध्यंताम् अवहत् ।

हिन्दी—जो नगरी सूर्य के उदय और अस्त के मध्य देदीप्यमान सूर्यकांत मणि के प्राकारों से उत्पन्न अग्निपुंज से परिविष्ट (आवृत) हो बाणासुर-नगरी (शोणितपुरी) की श्रेष्ठता को धारण कर लेती थी ।

टिप्पणी—शिव कृपा से शिवभक्त बाणासुर की नगरी शोणितपुरी चारों ओर अग्नि से परिविष्ट रहती थी, कुंडिननगरी की भी वैसी श्रेष्ठता यहाँ प्रमाणित की गयी है । कुंडिननगरी के प्राकार में सूर्यकांत मणियों भी पर्याप्त थीं, सूर्योदयास्तकाल में ऊँचे प्राकार की वे मणियाँ दमकने लगती थीं, जिससे पुरी परिविष्ट हो, अग्निपरिविष्टा बाण-नगरी-सी लगती थी । मल्लिनाथ के अनुसार अन्य के धर्म का अन्य से संबंध-निरूपण होने से यहाँ निदर्शनालंकार है, विद्याधर के अनुसार उदात्त भी है ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमबालुकयाऽच्छबालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ ८८ ॥

जीवातु—बहुरिति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः वराटिकागणनाय कपर्दिकासंख्यानाय अटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः कराः पाणय एव कर्क-

टोत्कराः कुलीरसंघाः यस्मिन् सः, हिमबालुकया कर्पूरेण अच्छबालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु घीरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो वराटिके'ति हलायुधः। 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः। 'सिताभ्रो हिमबालुका', 'स्यात्कुलीरः कर्कटक' इति चामरः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—बहुकम्बुमणिः वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः हिमबालुकया अच्छबालुकः यदापणार्णवः पटु दध्वान।

हिन्दी—अनेक शंखों, मणि-मुक्तादि से परिपूर्ण, कौड़ियों की गिनती के लिए घूमते हाथ रूप कर्कटसमूह (गिरगिटों) से व्याप्त, कर्पूररेणुका द्वारा स्वच्छ बालू से युक्त जिस (नगरी) का हाट रूप समुद्र अतिशय गर्जना करता रहता था।

टिप्पणी—कर्म-संकुल कुंडिनपुरी के हाट की तुलना की गयी है गरजते समुद्र से। वहाँ लहरों का कोलाहल होता है, यहाँ के समुद्रसम शंख-मणि आदि से पूर्ण, कर्पूर-बालुकामय हाट में लेन-देन में कौड़िया गिनते जनसमूह का कोलाहल है। 'पटुदध्वान'—से जन संकुलता सूचित की गयी है। सांग-रूपक अलंकार ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

जीवातु—यदिति। यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः। स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानैरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादिभ्य इलच् 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः। अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गे'त्यमरः। चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः। पतिव्रतानामौचिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वाद् 'गुणवचने' त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीष्। स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्त्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेनानित्यत्वज्ञापनाद्वैकल्पिकः। अत एव वामनः—ष्यञः षित्कार्यं बहुलमिति स्त्रीनपुंस-

कयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्तस्य अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते हि म्रियते या स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । अत्राभ्रगङ्गायाः यदगारेत्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा च यदगाराणामतीन्दुमण्डलमौन्नत्यं गम्यते तदुत्थापितां चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गया प्रतिचन्द्रोदयं प्रतिव्रतौचिती न मुमुचे ।

हिन्दी—जिसके आवासों की अटारियों की ऊपर की छत में लगी द्रवीभूत होती (पिघलती) चंद्रकांतमणियों से बहते प्रचुर जल से आकाशगंगा ने प्रत्येक चंद्रोदय के अवसर पर (पूर्णिमा में) पतिव्रताओं के लिए उचित धर्म को नहीं छोड़ा ।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी के आवास इतने ऊँचे थे कि चन्द्रोदय के अवसर उनकी छतों पर लगी चंद्रकांत मणियाँ पिघलकर अपने प्रचुर जल से आकाश गंगा में जलवृद्धि कर देती थी । नदियों का पति है समुद्र, प्रत्येक चंद्रोदयपर्व पूर्णिमा को समुद्र में ज्वार आ जाता है, उसके संसर्ग से समुद्र पत्नी गंगा में भी ज्वार आ जाता है, इस प्रकार पति के हर्ष में हर्षित गंगा भागीरथी पातिव्रत्य का आचरण करती है । परन्तु क्या करे आकाशगंगा, कैसे उसमें ज्वार उत्पन्न हो ? कुंडिनपुरी-प्रासादों की अटारियों की चंद्रकांतमणियाँ पिघल कर इसमें सहायक बन जाती हैं और आकाशगंगा का पातिव्रत रह जाता है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-काव्यलिंग-उदात्त की संसृष्टि है । मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा का संकर माना है तथा अतिशयोक्ति अलंकार से गम्य आगारोन्नत्य के आधार पर वस्तुध्वनि ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभूर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

जीवातु—रुचय इति। यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः। विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यनिपद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि तेषां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिताः अस्तमयक्षोभात् च्युताः अतएव निरालयाः निराश्रयाः रुचयः प्रभाः अभुः खलु, कथञ्चित्प्रच्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः। कुङ्कुमराशीनां तदा तत्सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। भातुर्लुङि झेर्जुसादेशः॥ ९०॥

अन्वयः—यत्र अनुसायं विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः अस्तम् इतस्य भास्वतः स्खलिताः निरालयाः रुचयः अभुः किल।

हिन्दी—जिस नगरी में प्रत्येक संध्या को सुगन्ध-सामग्री के हाट में केसर-विक्रय की गलियाँ अस्ताचल को जाते सूर्य से च्युत हुई (अतएव) निराधार कान्ति श्रेणियाँ जैसी आभासित होती थीं।

टिप्पणी—केसर की गलियों के साम्य के आधार पर सूर्यरुचियों से उनकी तुलना की गयी। यहाँ मल्लिनाथ ने गम्योत्प्रेक्षा मानी है, विद्याधर ने विशेषालंकार भी, रुद्रट के अनुसार जिसका लक्षण है—किञ्चिदवश्याधेयं यस्मिन्नवधीयते निराधारम् तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽतः॥ चंद्रकलाकार उत्प्रेक्षा विशेष का अंगांगिभाव संकर मानते हैं॥ ९०॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः॥ ९१॥

जीवातु—वततमिति। यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुमापणे पण्यवीथ्यां विततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत इत्यर्थः। पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति॥ ९१॥

अन्वयः—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिलं जगतीवस्तु पुरा हरेः उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते।

हिन्दी—जहाँ व्यापारियों द्वारा विक्रयार्थ हाट में फैलाये समस्त सांसारिक वस्तुजात (सामान) को प्राचीन काल में विष्णु के उदर में (समाया विश्व) मृकंडु के पुत्र मार्कंडेय के समान लोक-जन देखा करते हैं।

टिप्पणी—हाट में सब आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी, इसे पौराणिक कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि ने विष्णु के उदर में समग्र संसार देखा था। दर्शनीय—श्रीमदभागवत (१२-९)। विद्याधर के अनुसार उपमा और उदात्त, अलंकार ॥ ९१ ॥

सममेणमदैयदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

जीवातु—सममिति। यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्पन्दं ततः क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः। मलीमसं मलीनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः। अन्यथा पीतमध्यस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः। 'ज्योत्स्नातमिस्त्रे'—त्यादिना निपातः। अलिं भृङ्गमेणमदैः समं कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नावैत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः। इह निश्चलस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम्। अत्रालेर्नैल्यादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकते' ति लक्षणात्। तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यदापणे सौरभलोभनिश्चलं मलीमसम् अलिम् एणमदैः समं तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनारवैः न अवैत्।

हिन्दी—जिस (नगरी) के हाट में सुगन्ध के अभिलाष में निश्चल काले भौंरे को एणमृग के मद (कस्तूरी) के साथ तोलता दुकानदार (उसके) गुंजार करने पर भी जन-कोलाहल में पहिचान नहीं पाता था।

टिप्पणी—कस्तूरी के रंग का काला भौंरा सुगन्ध से प्राकृष्ट हो निश्चल उस पर बैठा था, सो एक-सा रंग होने के कारण दुकानदार कस्तूरी के साथ भौंरे को भी तोल दिया, तब भौंरा भनभनाने लगा, परन्तु जन-संकुल हाट में

इतना कोलाहल हो रहा था कि व्यापारी को भौंरे का भान ही नहीं हुआ। मल्लिनाथ को यहाँ यह आपत्ति है कि बैठा होने पर भौंरा 'मनमन' नहीं करता, उड़ने पर ही करता है, कवि की यह उक्ति प्रौढिवाद के आधार पर ही है। उनके अनुसार 'अलि' को वर्णसाम्य के आधार पर कस्तूरी मानने के कारण यहाँ सामान्य अलंकार है, जिससे भ्रान्तिमान् अलंकार व्यंजित होता है ॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

जीवातु— रविकान्तेति। यत्र नगर्यां सकलाहं कृत्स्नमहं 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। 'रात्राह्नाहाः पुंसी'ति पुंल्लिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योगविभागात्समासः। ज्वलनेन तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनितोष्मणा जनितोष्णेन रविकान्तमयेन सेतुना सेतुसदृशेनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टिमाध्वनेत्यर्थः। गच्छतां सञ्चरतां चरणौ चरणानित्यर्थः। 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम्। शिशिरे शिशिरर्तौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत्। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्रोत्तरस्याः पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत्र सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छतां चरणौ शिशिरे निशि हिमं पुरा नो दुनोति।

हिन्दी—जिस (पुरी) में समग्र दिन (सूर्य के) ताप से उष्ण (गरमाये) सूर्यकांतमणिमय सेतु पर जानेवालों के चरणों को शिशिर ऋतु की (ठंडी) रात में शीत कष्ट नहीं दे पाता था।

टिप्पणी—धूप से दिन में सेतु की सूर्यकांतमणियाँ इतनी गर्म हो जाती थीं कि उष्णता रात भर बनी रहती थी और जानेवाले बड़े सुख से पुल पार कर लेते थे, ठंड जाड़े की ऋतु में भी नहीं लग पाती थी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सेतु-उष्मा का असम्बन्ध रहने पर भी सम्बन्धकथन के कारण अतिशयोक्ति है, उसमें उत्तरवर्त्तिनी के पूर्वसापेक्ष होने के कारण संकर है। विद्याधर

की दृष्टि में विशेषोक्ति और उदात्त अलंकार, चंद्रकलाकार ने इन दोनों अलंकारों के अंगांगिभाव से स्थित होने के आधार पर दोनों का संकर माना है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥ ९४ ॥

जीवातु—विध्विति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं यस्याः नगर्याः पन्थानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेक्षे कलितीव्रः कलिकालवच्चण्डः आतपः न तपति स्म । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयःसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं तपागमे कलितीव्रः आतपः न तपति स्म ।

हिन्दी—चंद्रकिरणों से संजात जल के कारण निषधराज (नल) के शील-से शीतल चंद्रकांतमणिमय जिस (नगरी) के मार्ग को ग्रीष्मर्तु के आजाने पर कलि के तुल्य तीक्ष्ण धूप ताप न दे पाती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में पूर्व श्लोक की भाँति मार्ग के ग्रीष्मर्तु, में भी शीतल रहने का विवरण दिया गया है, साथ ही संकेत है कि नल कथा के श्रवण से कलि-प्रभाव नष्ट होता है, जैसा कि 'नै. च.' (१।१) में 'क्षितिरक्षिणः' से (अक्षिणः क्षितिः) अक्षी—कलि का नाश बताया गया है । मल्लिनाथ ने पूर्व श्लोक के समान अतिशयोक्ति और तत्सापेक्ष होने से उपमा के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति-उदात्त-उपमा की संसृष्टि है ॥ ९४ ॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

जीवातु—परिखेति । परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखामवापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषित-भाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थकुण्डलिग्रन्थः तद्वदिति शेषः । अत्र

नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ९५ ॥

अन्वयः—परिखावलयच्छलेन कुण्डलनाम् अदापिता परेषां ग्रहणस्य न गोचरा विषया फणिभाषितभाष्यफक्किका ।

हिन्दी—खेया-मण्डल (खाई के घेरे) के व्याज से कुण्डलना (गोलाकार) को प्राप्त (घिरी) अतएव शत्रुओं के अधीन (पराधीन) न हो सकने का विषय जो (नगरी) अन्य लोगों के ज्ञान का अविषय बनी, कुण्डलिता शेषावतार महामुनि पतञ्जलिकृत महाभाष्य की फक्किका के समान थी ।

टिप्पणी—जनश्रुति है कि वररुचि ने पातञ्जल महाभाष्य की फक्किका को कुण्डलित कर दिया था अर्थात् ग्रन्थ के दुर्ज्ञेय स्थलों पर घेरा बना दिया था कि इनका आशय 'शेष' ही समझ सकते हैं अन्य कोई नहीं, इसी प्रकार कुण्डिनपुरी को 'कुण्डलिता' अर्थात् खाई से घिरी होने के कारण पर—शत्रु अपने अधीन करने की बात सोच भी नहीं पाते थे। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव से उत्थापित 'सापह्नवा-गम्योत्प्रेक्षा' है, विद्याधर की दृष्टि में यहाँ अपह्नुति और उपमा अलंकार है। चंद्रकलाकार के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—कैतवापह्नुति का संकर है। राजशेखर के अनुसार 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्' (काव्यमीमांसा—शास्त्रनिर्देशाध्याय, अर्थात् स्वयम् शङ्काओं का आक्षेप करके उसका समाधान भाष्य है। एक और परिभाषा के अनुसार जहाँ सूत्रानुसारी पदों के द्वारा सूत्रार्थ किया जाता और स्वपदों का वर्णन होता है, वह भाष्य है—'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥'

मुखपाणिपदाक्षिण पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—सुखेति। यत्र नगर्यां मुखञ्च पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः। पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्वयपदेशः। भीमजा भैमी स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती। ददातेर्लुङि

'स्थाघ्वोरिच्चे' तीत्वं 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोपः। अत्र अन्यश्रियोऽन्यस्या-सम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः। तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतियोक्तिः। तदुत्थापिता चेयं निदर्शनेति सङ्करः॥ ९६॥

अन्वयः—यत्र पङ्कजैः मुखपाणिपदाक्षिण चम्पकैः अपरेषु अंगेषु रचिता भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं स्वयम् आदित।

हिन्दी—जहाँ कमलों द्वारा जिसके मुख, हाथ, पैर और नयन रचे गये हैं और चम्पक पुष्पों से अन्य अंग, ऐसी फूलों से रची गयी भीमपुत्री (दमयन्ती) ने काम-पूजा की फूलमाला की शोभा को स्वयम् ही स्वीकार लिया था।

टिप्पणी—कमलवदना, कमलकरचरणा, पंकजनयना, चम्पकतनु दमयन्ती जैसे फूलों की बनी थी, इस प्रकार वही मानों स्वयम् कामपूजा की पुष्पमाल थी। काम भी उससे सन्तुष्ट हो जाने की स्थिति में था। जो उसे एक वार देख लेता था, उसकी 'कामना' करने लगता था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अति-शयोक्ति और तदुत्थापिता निदर्शना का संकर है, विद्याधर की दृष्टि में निदर्शना और रूपक॥९६॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः॥ ९७॥

जीवातु—जघनेति। जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनं, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वै-कवद्भावः। तदेव भारः तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं शतसंख्याकाः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोरि' त्यमरः। अप्सर-सोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजनः सख्यः जातावेकवचनम्। यां नगरीमध्या-सत अध्यतिष्ठन्, 'अधिशीङ्स्थासां कर्मे'ति कर्मत्वं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा। अप्सरः-कल्पाः शतं सख्य एनामुपासत इत्यर्थः॥ ९७॥

अन्वयः—जघनस्तनभारगौरवात् वियत् आलम्ब्य विहर्त्तुम् अक्षमाः शतम् अप्सरसः अवतीर्य तत्सखीजनः याम् अध्यासत ध्रुवम्।

हिन्दी—जघन (नितंब) और कुच-भार गुरु (गरुआ) होने से आकाश का सहारा लेकर विहार करने में अक्षम (असमर्थ) सैकड़ों अप्सराएँ (धरती

पर) उतर कर उस (दमयन्ती) की सखियाँ होकर लगता है, उस (नगरी) में निवास कर रही थीं।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती अप्सराओंसे अधिक सौंदर्यशालिनी थी, अप्सराएँ तो उसकी सखी बन कर कुंडिनपुरी में उतर आयी थीं। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने सापह्नवा उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ?।
स्वरभेदमुपैतु या कथ कलितानल्पमुखारवा न वा ? ॥ ९८ ॥

जीवातु—स्थितीति। चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रमि'त्यमरः। या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्तां "वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि' त्यमरः। कथं न बिभर्तु बिभर्त्वेवेत्यर्थः। कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखानामारवो बहुमुखानां ब्रह्ममुख–पञ्चमुख–षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी स्वरस्य ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादभेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। उभयत्रापि सति धारणे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात्। किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः प्रथमार्धे। द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूताच्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः॥ ९८॥

अन्वयः—चित्रमयी या स्थितिशालिसमस्तवर्णतां कथं न बिभर्तु कलितानल्पमुखारवा या कथं वा स्वरभेदं न उपैतु ?

हिन्दी - (१) जो आलेख्यों (चित्रों) से पूर्ण है, उस नगरी में परस्पर उचित स्थिति प्राप्त करते सभी नील-पीतादि रंग क्यों न रहें ? (रहेंगे ही)। और जहाँ प्रचुर मात्रा में मुख शब्द कर रहे हैं (अनेक व्यक्ति एक साथ बोल रहे हैं), वहाँ स्वर-भेद (विभिन्न स्वरता) क्यों न हो ? (होना ही उचित है)।

(२) जिस नगरी में अपने-अपने आचार का परिपालन करते सभी ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण शोभित हों, ऐसा भाव धारण करती नगरी आश्चर्यमयी क्यों न हो ? (अन्यत्र वर्णसंकरता है, कुंडिनपुरी में नहीं, अतः उस नगरी को

आश्चर्यरूपा होना ही चाहिए)। और जहाँ वाचाट अतएव अनल्पमुख ब्राह्मणों द्वारा 'आरव' (वेदपाठ) होता है, वहाँ उदात्त; अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का भेद क्यों न हो ? (त्रिस्वर वेद-पाठ में स्वरभेद होगा ही)।

(३) वह नगरी आश्चर्य विचित्र (अनूठी) क्यों न हो, जहाँ आठ (उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु) स्थानों से उच्चरित होते वर्ण स्थित हों ? (जहाँ सलक्षण वेदपाठ होता है, वह विचित्र है ही, क्योंकि सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं है)। और वह नगरी 'स्वः' (स्वर्ग) से 'अभेद' क्यों न स्थापित करे, जहाँ अनल्पमुख ब्राह्मण 'अनल्पमुख' अर्थात् अनेक मुख वाले (चतुर्मुख) ब्रह्मा जैसे स्वर्ग में वेद का 'आरव' करते रहते हैं, उसी प्रकार वेद-स्वर गुंजरित करते रहते हैं ? अथवा स्वर्ग में अनल्पमुख—चतुर्मुख ब्रह्मा पंच-मुख शिव, षण्मुख स्कंद के स्वर जैसे हैं, वैसे ही नगरी में अनेक मुखों के शब्द रव होते हैं।

टिप्पणी—चित्रमयी कुंडिनपुरी का वर्णन विचित्र श्लिष्ट शब्दावलि में किया है, जिसके तीन अर्थ नगरी के वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, वहाँ वर्णव्य-वस्था की मर्यादा है, सलक्षण सस्वर वेदपाठ होता है, अनेक आलेख्य सजे हैं, प्रचुर जन-बल है। विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष अलंकार है, जिसे मल्लिनाथ ने प्रकृत श्लेष कहा है, क्योंकि सभी अर्थ प्रकृत हैं। केवल दो अर्थों के उल्लेख करते मल्लिनाथ ने बताया है कि एक नाल में दो फलों के समान एक शब्द के दो अर्थ प्रतीत होने से प्रथमार्द्ध में अर्थश्लेष है, द्वितीयार्द्ध में जतुकाष्ठवत् एकभूत दो शब्दों से अर्थ प्रतीति होने के कारण शब्दश्लेष है। चंद्रकलाकार के अनुसार पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतश्लेष का एकाश्रयानुप्रवेशरूप संकर है, द्वितीयार्द्ध में भी उसी प्रकार संकर है और सम्पूर्ण श्लोक में संसृष्टि है॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः॥ ९९॥

जीवातु—स्वरुचेति। माणिक्यमयाः पद्मरागमयाः यदालयाः यस्यां नगर्यां गृहाः दिने दिने, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृषः अर्कसम्पर्कादुत्पन्नापिपासाः सन्तः स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्यं

प्राप्तयेति तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात्। पताकया रसनायमानयेति भावः, सुधाकरं बहुधा लिलिहुः आस्वादयामासुरित्यर्थः। अह्नि सन्तप्तानिशि शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः। अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतोपचार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्ततद्गुणोत्थेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

अन्वयः—माणिक्यमयाः यदालयाः दिनं समीयुषा अर्केण उत्तृषः निशि स्वरुचा अरुणया पताकया सुधाकरं बहुधा लिलिहुः।

हिन्दी—माणिक्य-रत्नों से बने जिस (नगरी) के गृह समग्र दिन निकटागत सूर्य के कारण उद्दाम तृषा (प्यास) से आकुल हो रात में अपनी कांति से अरुण हुई पताका रूपा जिह्वा से अमृतनिधि चंद्र को अनेक प्रकार से चाहते रहते हैं।

टिप्पणी—कांति का आशय है कि नगरी में सूर्य-चंद्र को छूनेवाले अत्युच्च आवास हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तृषानिवारणार्थं सुधाकर-लेहनात्मक शीतोपचार की 'उत्प्रेक्षा' (गम्या) है, जो 'तद्गुण' से उत्थापित है, अतः दोनों का संकर है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति-अतिशयोक्ति-तद्गुण-उदात्त अलंकारों का संकर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम्।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

जीवातु—अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति—लिलिह इति। अमलपद्मरागजं यस्यां नगर्यां नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रियमतिसामीप्यादभिव्याप्तम्। श्रयतेः कर्मणि क्तः, श्रृणातेः पक्वार्थादिति केचित्। तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमित्यास्तां तत्। अत एव पिपासु तृषितं सत् पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। स्वकीया रुग् यस्याः तया स्वरुचा तद्दूषितयेत्यर्थः। अत एव जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे आस्वादयामास। लिहेः कर्त्तरि लिट्। त्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिभयेत्युपमालङ्कारश्च विशेषः ॥ १०० ॥

अन्वयः—अमलपद्मरागजम् अर्ककरैः श्रितं पिपासु यन्नृपसद्म निशि स्वरुचा जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे।

हिन्दी—निर्मल पद्मराग मणियों से निर्मित, सूर्य-किरणों के समीप हुआ अतएव प्यासा जिस (नगरी) के राजा का गृह रात में अपनी कान्ति से जिह्वासदृश लाल बनी पताका द्वारा सुधाकर को चाटा करता है।

टिप्पणी—पूर्वभंगिमा के अनुरूप ही राजगृह की अत्युच्चता द्योतित। मल्लिनाथ के अनुसार अलंकार-स्थिति पूर्वश्लोकवत् है, विशेषता यही है कि यहाँ 'जिह्वानिभया'—उपमा है और संकर है। विद्याधर की दृष्टि में अलंकार-स्थिति पूर्ववत् ही है। चंद्रकलाकार ने भी तद्गुण—प्रतीयमानोत्प्रेक्षा-उपमा का अंगांगिभाव संकर माना है ॥१००॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः॥ १०१ ॥

जीवातु—अमृतेति। पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्याः वलभ्यां 'कूटागारन्तु वलभि'रित्यमरः। पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छनं वलयायिते वलयीभूते शेषे शेत इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णोः सखितां सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः॥ १०१ ॥

अन्वयः—पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायितशेषशायिनः पीतवाससः सखिताम् आदित।

हिन्दी—जिस (नगरी) के ऊँचे कूटागार की पीले रंग की पताका से मिल कर अमृतद्युति चंद्र का शश-चिह्न कुण्डली बनाये शेषनाग पर शयन करते पीतांबर हरि (विष्णु) के साम्य को प्राप्त होता था।

टिप्पणी—ऊँची वलभी की पीली पताका चंद्र के काले चिह्न के चारों ओर घिर जाती है, जिससे वह चंद्र-कलंक 'पीतांबरो हरिः' बन जाता है, गोल घेरे वाला चंद्रमा ही, गेंडुरी मारे पड़ा शेषनाग है, जिस पर शशचिह्न-रूप पीतांबर विष्णु सोये हैं, अर्थात् बड़ी ऊँची है वलभी (कूटागार)।

उपमा। चंद्रकलाख्या के अनुसार असंबंध में संबंध-कथन के कारण अतिशयोक्ति-उपमा का अंगांगिभाव संकर ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२ ॥

जीवातु—अश्रान्तेति। यस्याः नगर्याः प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः दुकूलमयी पताकेत्यर्थः। अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूताभ्यः पवित्राभ्यः रसनाभ्यो जिह्वाभ्यः आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता सञ्जातविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्ग-सृष्टिरेव केलिः लीला यस्य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं सामि घटिता अर्धसृष्टा 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सन' इत्यमरः। मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्तुरान्दोलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजहारेत्युत्प्रेक्षा। एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या। शार्दूलविक्रीडितवृत्तं 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

अन्वयः—अनिलान्दोलैः यत्प्रासाददुकूलवल्लिः अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवाजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना गाधिसुतेन पूर्वं सामिघटिता मुक्ता मन्दाकिनी नु दिवि अखेलत्।

हिन्दी—पवन से डोलती जिस (नगरी) के प्रासादों की ध्वजा-रूपा श्वेत चदरिया निरन्तर वेदपाठ से पवित्र रसनाओं से प्रकट होते स्तुतिगान में अकुंठ ब्रह्मा के चारों मुखों द्वारा (अर्थात् वेदपाठ से पवित्र चारों मुखों से एक साथ ब्रह्मा जी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर) नवीन स्वर्ग-निर्माण की जिसकी क्रीडा में विघ्न पड़ गया है, ऐसे गाधिपुत्र (विश्वामित्र) द्वारा अर्द्धनिर्मित्त कर छोड़ दी गयी मंदाकिनी के समान मानो आकाश में लहराती थी।

टिप्पणी—नवीन सृष्टि रचनेवाले विश्वामित्र की कथा (त्रिशंकु-उपाख्यान) के माध्यम से आकाश में लहराती प्रासाद-ध्वजा के चित्रण द्वारा प्रासाद की अत्युच्चता द्योतित। उत्प्रेक्षालंकार। शार्दूलविक्रीडित छंद ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥ १०३ ॥

जीवातु—यदिति । यस्या नगर्याः अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः । तथाभूता भाः छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः । शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पताकेत्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्त्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमलभत बाल्यमुनेव बभावित्यर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

अन्वयः—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः शुचिसौधवस्त्रवल्लिः दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वसुः शिशुत्वम् अलभत ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमणि-निर्मित गृहों की किरणों से भ्रमर-वर्ण (नीले रंग की आभावाली) प्रासाद की शुभ्र पताका सूर्य की गोद में (समीप) चञ्चलता से क्रीडा करती यम-भगिनी (यमुना) के बाल्यकाल को प्राप्त करती थी ।

टिप्पणी—इन्द्रनीलमणि-निर्मित प्रासादों की लहराती शुभ्र पताका मणि के नीले रंग के कारण नीली बन कर उस यमुना (यमुना का वर्ण भी नीला माना जाता है) के सादृश्य को प्राप्त कर लेती थी, जो अपने बाल्य काल में पिता सूर्य की गोद में चंचलतापूर्वक क्रीडा करती है । मल्लिनाथ ने इस पद्य में तद्गुण और रूपक से संकीर्ण निदर्शना का निर्देश किया है, विद्याधर ने अनुप्रास-अतिशयोक्ति-उदात्त तद्गुण-निदर्शना के संकर का । चंद्रकलाख्या के अनुसार यहाँ निदर्शना-तद्गुण-रूपक-उपमा का संकर है । पुष्पिताग्रा छंद है, जिसके प्रथम-तृतीय चरणों में दो नगण (।।।), एक रगण (ऽ।ऽ), एक यगण

(ISS) क्रम से बारह-बारह वर्ण होते हैं और द्वितीय-चतुर्थ चरण में एक नगण (III), दो जगण (ISI), एक रगण (SIS) एक गुरु (S) क्रम से तेरह-तेरह वर्ण— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

जीवातु—स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम याभिस्ताः साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गनैवाभवत् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इत्यभिधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः । उत्सुकमुद्युक्तं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेघमारुह्य रसाद्रागाद् यान्ती गच्छन्ती अध्वनि अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैः सैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलितव्योमानः साक्षात् अप्सरसः एव अभवत्, यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहाय उत्सुकं पाथोदम् आरुह्य रसात् यान्ती अध्वनि अभ्रतरसा निमेषं न प्राप ।

हिन्दी—जिस (नगरी) की कामिनी विमान द्वारा आकाश में यात्रा करती साक्षात् अप्सरा ही हो गयी थी, जो कि अपने क्रीडा-प्रासाद के शिखर से स्व-प्राणानाथ के क्रीडा गृह के मध्य आतिथ्य-ग्रहणार्थ, जाते हुए जलद पर आरोहण करके, अनुराग से जाती हुई, मार्ग में मेघ के वेग के कारण क्षण भर भी पलक न झपा पायी।

टिप्पणी—केलिप्रासाद की अत्युच्चता द्योतित । कामिनी-सहज सौन्दर्य, मेघयान और अनिमेषता के कारण अप्सरातुल्य लगती थी । प्रिय के प्रति उत्कंठिता नायिका को शीघ्रता अपेक्षित रहती है, विलम्ब उसे सह्य नहीं

होता, अतः—'अध्वनि निमेषं न प्राप'—मार्ग में क्षण निमेष भर—क्षण भर को भी नहीं रुकी। मल्लिनाथ ने भेद में अभेदकथन रूपा अतिशयोक्ति अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का, चंद्रकलाकार ने दो बार अभेद का अध्यवसाय होने से यहाँ दो अतिशयोक्तियों की संसृष्टि और 'कटक', 'शिखर' शब्दों से नर्महर्म्य तथा सौध की अत्युच्चता व्यंग्य होने के कारण शब्द शक्ति-मूलवस्तु ध्वनि का निर्देश किया है। शार्दूलविक्रीडित छंद ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

जीवातु—वैदर्भीति। 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो वेगगर्वो येषां तत्तथा ह्रिया धृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। कस्याः सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैरंशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्याः सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म। किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाद्यत्तत्सुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थः। अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अंशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिभेदः। स्रग्धरावृत्तं 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयमि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितैः ब्रह्माण्डाघातभग्नस्य-दजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः दिवि उत्तानगाया कस्याः सुरसुरभेः आस्यदेशं गताग्रैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म।

हिन्दी—विदर्भ कुमारी (दमयन्ती) के क्रीडापर्वत पर मरकतमणिनिर्मित शिखरों से उठी ब्रह्मांड के संघट्टन से वेगजात अभिमान के टूट जाने के कारण लज्जा से नीचे मुख किये स्वर्ग में ऊपर मुख करके जानेवाली किसी देवगौ के मुखमें जिनके अग्रभाग चले जाते हैं, ऐसी, किरणों के अग्रभागों द्वारा जिस (नगरी) में गोग्रास-प्रदान रूप व्रत का पुण्य अनवरत बढ़ रहा था।

टिप्पणी—वैदर्भी के केलि-शैल की उच्चता द्योतित है, जो मरकत का बना है, जिनसे निकलती किरणों के अग्रभाग उत्तानगा देवगौ में मुख के पहुँच गौ को ग्रास खिलाने का पुण्य निरन्तर नगरी को दिलाते रहते हैं। केलि-शैल के मरकत-रत्नों की किरणें ब्रह्मांड की ओर वेग से उठीं, परन्तु ब्रह्माण्ड-संघट्टन से उनका वेग गर्व खंडित हो गया और वे फिर नीचे की ओर गिरीं कि उत्तानगा किसी सुरसुरभि के मुख में जा गिरीं। इस प्रकार अनायास ही नगरी को गोग्रास देने का पुण्य मिलता रहा। मल्लिनाथ ने असंबंध में सबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि कुछ टीकाकारों ने यहाँ अत्युक्तमालंकार भी माना है। विद्याधर ने रूपकातिशयोक्ति मानी है, चंद्रकलाकार ('अंशुदर्भैः' में) रूपक, अतिशयोक्ति, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उदात्त अलंकारों की संसृष्टि मानते हैं। स्रग्धरा छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में एक मगण (ऽऽऽ), एक रगण (ऽ।ऽ), एक भगण (ऽ।।), एक नगण (।।।), तीन यगण (।ऽऽ) के क्रम से इक्कीस वर्ण होते हैं। सात-सात-सात पर यति होती है—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्॥ १०५॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपकल्पैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन॥ १०६॥

जीवातु—विधुकरेति। तत्र तस्यां नगर्यां शशिदृषदुपकल्पैश्चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैर्विफलितं व्यर्थीकृतं जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे गौरवं भारो यस्य तेन भैमीवनेन स हंसो हृतचित्तो व्यरचि। कर्मणि लुङ्। अत्रालवालानां चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्तं—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात्॥ १०६॥

अन्वयः—तत्र शशिदृषदुपकल्पैः विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णैः

तरूणाम् आलवालैः विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो व्यरचि ।

हिन्दी—वहाँ (नगरी में) चंद्रकांतमणियों से बने अतएव चंद्र-किरणों के सम्पर्क से पसीजने के कारण अपने ही जल-प्रवाह से परिपूर्ण वृक्षों के आलवालों (जलाधारों) द्वारा जिसमें जल से सींचने की क्रिया का भार व्यर्थ है, ऐसे भीमसुता (दमयन्ती) के उपवन पर वह (हंस) आकृष्टचित्त हो गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती की वाटिका में वृक्षों के आलवाल (थांवले) चंद्रकांत मणि से बनाये गये थे, चंद्रमा निकलता, मणियाँ पसीजतीं और जल से आलवाल पूर्ण हो जाते । अपने आप ही सिंचाई हो जाती थी । बड़ी ही विचित्र और मनोरम थी वह वाटिका कि मानव नहीं, पक्षी का भी चित्त उसमें रम गया । मल्लिनाथ ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है और विद्याधर ने अतिशयोक्ति और उदात्त का । इसमें और अगले तीन (१०७, १०८. १०९ वें) श्लोकों में भी मालिनी छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण (।।।), एक मगण (ऽऽऽ), दो यगण (।ऽऽ) क्रम से पंद्रह वर्ण होते हैं, आठ और सात पर यति होती है ।। १०६ ।।

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ।। १०७ ।।

जीवातु—अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षी तत्र वने सदृशभासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निनिविम्य' इति षत्वम् । उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः अनुकरणे पटुः समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अद्राक्षीदित्यर्थः ।। १०७ ।।

अन्वयः—अथ कनकपतत्रः तत्र सदृशभासां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम् उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीम् अक्षिलक्षीचकार ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती-उपवन के दर्शन) के उपरांत स्वर्णपंखी (हंस) ने वहाँ (वाटिका में) समान कांतिमती सखियों की सभामध्य विशेष रूपसे दीपती, तारों की परिषद् में मध्यस्थिता (नेतृत्त्व करती) शीतकिरण (चन्द्र) की कला के अनुकरण में समर्थ शोभान्विता (दमयंती) को नेत्रगोचर किया।

टिप्पणी—वाटिका में अनुपम रूपवती सखियों के मध्य विराजती दमयंती सुवर्णपक्षी को ऐसी प्रतीत हुई, जैसी कि तारिकाओं के मध्य चन्द्र-कला। दमयंती की सखियाँ भी उसी जैसी नहीं, तो उसी के समान सौंदर्य-शालिनी थीं, दमयंती तो अनुपम सुन्दरी थी कि विचित्र पक्षी, सोने के पंख-वाले राजहंस के नेत्र भी उसे देखते ही रह गये। उपमालङ्कार ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

जीवातु—भ्रमणेति। अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष्यता गवेषमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अमुष्या अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसंज्ञा। मुखेन्दुं सेवितुं लम्बमानः स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः तेने वितेने तनोतेः कर्मणि लिट्। उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—अधः क्वचन पतनयोग्यं देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्ण-स्वर्णभासा तेन खगेन अदसीयं मुखविधुं सेवितु लम्बमानः शशिपरिधिः इव उच्चैः मण्डलः तेने।

हिन्दी—नीचे (धरती पर) कहीं उतरने योग्य स्थान को खोजते परिभ्रमण के वेग से सुवर्णदीप्ति विकीर्ण करते हुए उस पक्षी (हंस) ने जैसे उस (दमयंती) के मुखचन्द्र के सेवन के निमित्त लटकते चन्द्रपरिवेष के समान ऊपर मंडल लिया (गोल चक्कर लगाया)।

टिप्पणी—धरती पर नीचे उतरते पक्षी का यह स्वभाव है कि वह गोल चक्कर लगाकर स्थान निश्चित करके तब उतरता है, राजहंसने भी ऐसा ही किया। कवि ने इसी पर यह बिम्ब-वर्णन किया है। लगा कि चन्द्र के निकट चन्द्र का घेरा 'फ्रेम' आ रहा है दमयंती का मुख चन्द्रमा है, स्वर्णाभा बिखेरता चक्कर लेता हंस उसका सुनहरी फ्रेम है। हंस की 'सेवितुम्' क्रिया का भाव नारायण पंडित ने 'परिचुम्बितुम्' लिया है, कुछ अन्य टीकाकार 'द्रष्टुम्' लेते हैं। वस्तुतः यह भाव अधिक स्वाभाविक लगता है कि मुख-चन्द्र का प्रभा-मण्डल, जो पीछे छूट गया था, चन्द्र के चारों ओर लगने के लिए निकट आ रहा है—'सेवितुम्—उपसेवितुम्'। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा-स्वभावोक्ति का संकर, विद्याधर की दृष्टि में रूपक-उपमा-जाति की संसृष्टि ॥ १०८ ॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।
इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

जीवातु—अनुभवतीति। विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति भाषायामि'ति निपातनात् ङीप्। सार्द्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमरः। भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टं नन्दनानन्दं नन्द-नमुखं नानुभवतीति मतीः बुद्धिरुदयासीदुत्थिता। अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्। प्राधान्यत्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः। अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'भेदप्रधानसा-धर्म्यमुपमानोपमेययोः। आधिक्यादल्पकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—विपिनभुवि सखीभिः सार्धम् आबद्धखेलां भैमीं प्रेक्ष्य—घृताची-मुखाभिः सखीभिः सह सा शची इत्थम् उच्चैः नन्दनानन्दं न अनुभवति—पक्षिणः इति मतिः उदयासीत्।

हिन्दी--उपवनप्रदेश में सखियों के साथ क्रीडारता भीमपुत्री को देख पक्षी (हंस) की ऐसी बुद्धि बनी कि घृताचीप्रभृति सहचरियों के साथ उस सुविख्यात इंद्राणी शची को इस प्रकार के प्रचुर आनंद का नन्दन उपवन की क्रीडा में भी अनुभव नहीं होता।

टिप्पणी—दमयंती की शची, उसकी सखियों की घृताची आदि अप्सराओं और वाटिका की नंदनकानन से तुलना करते हुए दमयंती के क्रीडा-सुख की शची के केलिसुख से श्रेष्ठता बताकर एक प्रकार से दमयंती-परिवेष की शची-परिवेष की अपेक्षा श्रेष्ठता द्योतित की गयी है। मल्लिनाथ ने इसी आधार पर यहाँ व्यतिरेक अलंकार माना है, यों विद्याधर ने भ्रांतिमान् का निर्देश किया है॥ १०९॥

श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुपुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ ११०॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। व्याख्यातम्। द्वितीय एव द्वैतीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्य' इतीकक् द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणितः द्वितीय इत्यर्थः, अगमत् ॥ ११० ॥

इति 'मल्लिनाथ'सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

अन्वयः--(प्रथम सर्ग के समान) कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः··· ···सुषुवे, तस्य चारुणि प्रबन्धे महाकाव्ये नैषधीयचरिते अयं द्वैतीयीकतया मितः निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—कविराजसमूह ·· श्रीहर्ष के चारु प्रबन्ध महाकाव्य नैषधीयचरित में यह द्वितीय रूप में परिगणित स्वभावसुन्दर-प्रकृतिचित्रों से शृङ्गारित सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ॥११०॥

द्वितीय सर्ग ससाप्त

— ० —

साहित्यदर्पणम्

'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार—आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी

कालिदासादि महाकवियों के कतिपय ग्रन्थों के ख्याति प्राप्त व्याख्याकार ने आधुनिक पठन-पाठन के अनुरूप अनावश्यक विस्तार न करके सुबोध संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्या में सरलता लाने का भरपूर प्रयास किया गया है। इसकी पाण्डित्यपूर्ण विचारों से ओत-प्रोत समीक्षात्मक विशद भूमिका में ग्रन्थ के गम्भीर अध्ययन एवं शोध के परिणाम उपन्यस्त हैं। परीक्षार्थी छात्रों के लिये तो इसकी हिन्दी व्याख्या ही पर्याप्त है। १–६ परिच्छेद ४०–००, ७–१० परिच्छेद ४०–००, संपूर्ण ६०–००

दशकुमारचरितम्

'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

आचार्य शेषराज शर्मा कृत इस के सावतरण व्याख्या में एक-एक पद के दो-दो पर्याय, समास, विग्रह, भावार्थ, व्याकरण तथा कोश का भी यथास्थल समुचित प्रयोग किया गया है। उत्तर पीठिका शीघ्र, पूर्वपीठिका ८–००

वेणीसंहार-नाटकम्

सटिप्पण 'कमलेश्वरी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्या—डॉ० बालगोविन्द झा

भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में संस्कृत पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत यह नाटक निर्धारित है, अतः छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर विद्वान् लेखक ने अपने अध्यापनानुभव से संस्कृत-हिन्दी उभय व्याख्याओं के माध्यम से छात्रों को वेणीसंहार के अध्ययन का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके, इसी लक्ष्य से टीका लिखी है। नाटक के अन्तर्गत संवादों व श्लोकों के व्याख्याक्रम में अन्वय, प्रतिशब्द, कोश, छन्द एवं अलंकार का निर्देश तथा विशद विवेचनात्मक टिप्पणी द्वारा गंभीर भावों को सर्वजनवेद्य बनाने की चेष्टा की गई है। भूमिका भाग में कवि एवं उनकी कृति से संबद्ध ऐतिहासिक विवेचन भी सविस्तार प्रस्तुत किया गया है, जो उपलब्ध किसी भी संस्करण में देखने को नहीं मिलता २०–००

कृष्णदास अकादमी चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी–१